रचयिता-परिचयकण

जन्मतिथि : ६ अगस्त, १९१५
माता का नाम :
स्व० श्रीमती रामराजी पाण्डेय
पिता का नाम :
स्व० पं० गोपालजी पाण्डेय
बालविवाहिता :
स्व० श्रीमती रोशनी पाण्डेय
युवापरिणीता :
स्व० श्रीमती चन्द्रावती पाण्डेय
जन्मस्थान : शाहपुर पट्टी, जिला–भोजपुर (बिहार)

१. स्वाधीनता-संग्राम में : १९३० एवं १९४२ ई०, अन्ततः कारावास, पेन्शन-परित्याग ।

२. व्यवसाय : पत्रकारिता, प्रधान सम्पादक दैनिक 'नवराष्ट्र', दैनिक 'विश्वामित्र', साप्ताहिक 'अग्रदूत', स्वदेश, 'नवीन बिहार', 'बिहार जीवन', मासिक 'पाटल' एवं 'बालक'

३. व्यवसायक्रम में कार्यक्षेत्र : कलकत्ता, काशी, कानपुर, पटना, भागलपुर ।

४. उच्चतम सम्मानोपाधि–'साहित्यवाचस्पति', हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की उच्चतम सम्मानोपाधि ।

५. उच्चतम गैरसरकारी पद–अध्यक्ष, बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन एवं बंग प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन । वरिष्ठ उपाध्यक्ष, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

६. उच्चतम सरकारी पद : बिहार सरकार की (उच्चतम) हिन्दी-समिति के द्वितीय (अंतिम) अध्यक्ष/प्रथम अध्यक्ष थे डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ।

७. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के प्रति बिहार-सरकार की उपेक्षानीति के विरोध में एकमात्र पदत्यागी निदेशक ।

८. प्रकाशित काव्यकृतियाँ : १. 'गणदेवता' (संग्रह), २. 'अशोक' (प्रबन्ध-काव्य), ३. 'शक्तिमयी' (काव्यचयनिका), ४. 'राष्ट्रव्यंजना' (काव्यचयनिका), ५. 'युगान्तर' (प्रयोगात्मक महाकाव्य),

९. प्रकाशित हो रहे हैं : ६. 'लोकायन' (प्रयोगात्मक महाकाव्य), ७. 'राष्ट्रशतक' (संग्रह) ।

पता : देवगीत, आशियाना नगर, पटना-८०० ०१४ (बिहार)

आवरण : श्री मनोज कुमार 'बच्चन'

युगान्तर

महाकाव्य

रामधारी पा

'युगान्तर'

(प्रयोगात्मक महाकाव्य)

रचयिता :
रामदयाल पाण्डेय

प्रकाशक :
पाण्डेय रचनावली प्रकाशन
'देवगीत', आशियाना नगर
पटना–८०००१४

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :
पाण्डेय रचनावली प्रकाशन
'देवगीत', आशियाना नगर
पटना—८०००१४

सर्वाधिकार : रचयिता

प्रथम संस्करण

प्रकाशन-वर्ष : १९९१ ई०

मूल्य : एक सौ रुपये

मुद्रक :
न्यू साहनी प्रिंटिंग प्रेस
४/५६, राजेन्द्र नगर
पटना—८०००१६

स्मृति-तर्पण

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन

महामहोपाध्याय पं० गगानाथ झा

महापण्डित पाण्डेय रामावतार शर्मा

पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा

आचार्य शिवपूजन सहाय

डा० सेठ गोविन्द दास

डा० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर'

श्री फणीश्वर नाथ 'रेणु'

का

रामदयाल पाण्डेय

द्वारा

सस्नेह समर्पण

चि० धर्मात्मज श्री रामजी शर्मा

चि० धर्मात्मज श्री विजय कुमार सिंह

सौ० धर्मात्मजवधू श्रीमती मीना सिंह

चि० धर्मात्मज श्री उदय कुमार सिंह

तथा

समस्त परिवार को

(ग्राम—शम्भुपुरा, थाना—नौबतपुर, पटना)

शुभाशीषपूर्वक एवं कृतज्ञतासहित ।

—रामदयाल पाण्डेय

विशिष्ट वित्त-सहयोषी-गण

१. श्री विपिन बिहारी सिंह, तिलौथू (रोहतास)
२. श्री विश्वनाथ खेताण, (मोकामा, पटना)
३. श्री भागवत राम अग्रवाल, फारबिसगंज (बिहार)
४. श्री अरुण कुमार सिंह, वास्तु-विशेषज्ञ, ए० के० एसोशियेटस, पटना
५. प्रधानाचार्य डॉ० वाणवीर सिंह, पटना
६. डॉ० ठाकुर धनुषवीर सिंह, पटना
७. श्री ज्ञानचन्द कोठारी, पटना
८. श्री प्रदीप जैन, पटना
९. श्री सुरेश पाण्डेय, नवविकास निवेश, पटना-१४
१०. श्री रामावतार झुनझुनवाला, भागलपुर (बिहार)
११. श्री प्रयागनारायण दास, गोड्डा
१२. प्रो० डॉ० कैलाशनाथ तिबारी, पूर्णिया
१३. श्री सुभाषचन्द्र, 'चन्द्रकला', आशियानानगर, पटना-१४
१४. श्री सत्यनारायण झुनझुनवाला, अजन्ता प्रेस, बेतिया
१५. श्री गंगाप्रसाद आर्य, पटना
१६ श्री विश्वेश्वर प्रसाद, वेलाही, सीतामढ़ी (बिहार)
१७. प्रो० डॉ० त्रिभुवन ओझा, जमशेदपुर
१८. श्री हृदय नारायण, पुनाईचक, पटना
१९. श्री सुरेश पाठक, पाठक बिगहा, जहानाबाद
२०. श्री विनोद शंकर मिश्र, खगौल, पटना
२१. श्री गया प्रसाद खेतान, लखोसराय

समस्त विशिष्ट एवं सामान्य वित्त-सहयोगी महानुभावों के प्रति मैं चिर कृतज्ञ रहूँगा।

—रामदयाल पाण्डेय

अनुक्रम

सगसंख्या	सर्गशीर्षक		पृष्ठसंख्या
१.	जिज्ञासा	...	१७—२६
२.	ज्योतिष्प्रयास	...	२७—४२
३.	व्रीड़ा	...	४३—५२
४.	प्रगति	...	५३—७०
५.	चित्रपथ	...	७१—९०
६.	संगर-पथ	...	९१—१०८
७.	शान्तियात्रा	...	१०९—१२२
८.	संस्कृति-सौरभ	...	१२३—१३८
९.	समन्वय-चक्र	...	१३९—१७६

प्राक्कथन

स्व० धर्माग्रज कविवर पं० बुद्धिनाथ झा 'कैरव' को नमन करते हुए निवेदन है कि यह कृति प्रयोगात्मक है, पारम्परिक महाकाव्य नहीं। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि पारम्परिक महाकाव्यों का युग समाप्त हो गया है। उनके कथन के असत्य होने का प्रश्न नहीं हो सकता और उसपर सन्देह भी नहीं किया जा सकता। परन्तु प्रयोगात्मकता का अन्त कभी नहीं हो सकता। अतः इस दिशा में यह विनम्र प्रयास प्रस्तुत है।

पारम्परिक महाकाव्यों तथा प्रबन्ध-काव्यों में नायक-नायिका का होना और उनका चरित्रचित्रण करना आवश्यक होता है। इस कृति में नायक के स्थान पर मानव-समाज ही है, कोई व्यक्ति नहीं। अतः चरित्रचित्रण के रूप में इसमें मानव-समाज का ही चरित्रचित्रण है, किसी व्यक्ति का नहीं। इसमें समष्टि को व्यष्टि से अभिन्न और व्यष्टि को भी समष्टि से अभिन्न माना गया है। मानव-समाज के विकास-क्रम को सांकेतिक रूप में व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। प्रकाशन हेतु पर्याप्त आर्थिक साधन के अभाव में इसके कलेवर को संक्षिप्त करना पड़ा है। 'महाकाव्य' का महाकलेवर भी पारम्परिक रहा है। रचयिता सादर क्षमाप्रार्थी है कि इस रचना को महाकलेवर अप्राप्य रहा।

इस कृति का आरम्भ 'जिज्ञासा-सर्ग' से हुआ है। अन्तिम अर्थात् नवम सर्ग है समन्वय-चक्र। मानव-समाज का विकासक्रम क्रमशः इस चक्र तक पहुँचा है। इस विषयवस्तु की चर्चा जब इन पंक्तियों के लेखक ने स्व० आचार्य शिवपूजन सहाय से की थी तो वे आह्लादित हुए थे। उस समय रचयिता ने इस कृति के लिए 'अजस्रा' नाम इस दृष्टि से प्रस्तावित किया था कि इसमें मानव-समाज के विकास का अजस्र प्रवाह पद्यांकित किया जायेगा। आचार्यश्री ने तत्काल यह नाम प्रचारित एवं प्रकाशित भी कर दिया था। किन्तु कालान्तर में रचयिता को प्रतीत हुआ कि 'युगान्तर' नाम ही सभीचीन होगा। अस्तु।

अर्थाभाव की स्थिति में प्रावकथन को भी संक्षिप्त ही रखना पड़ रहा है। अतः इसके सैद्धान्तिक पक्ष को संक्षिप्त रखते हुए व्यावहारिक पक्ष की अनिवार्यता को स्वीकर करना पड़ रहा है। अपनी कवि-छवि को भी गौण रखते हुए मानव-छवि को ही इस कृति में प्रभुखता दी गई है। कवि के लिए मूलतः सम्यक् मानव होना तो आवश्यक ही है, अर्थात 'जन' शब्द में 'सत्' उपसर्ग प्राप्तकर 'सज्जन' होना अनिवार्य है मानव-विकासक्रम का ध्येय भी इस सज्जनता-परिणति को प्राप्त करना ही है। इस दिशा में काव्य-कृतियों की सार्थकता हेतु रचयिता ने अपना प्रथम कविता-संकलन 'गणदेवता' के रूप में सर्वथा समाजसेवा की दृष्टि से प्रस्तुत किया। उसमें मानवतावाद का स्वर ही प्रमुख था। तदनन्तर समाजसेवा-भाव से ही लोकतांत्रिक शासन का आदर्श स्वरूप प्रस्तुत करने के उद्देश्य से प्रबन्ध-काव्य 'अशोक' प्रकाशित कराया गया। नारी-शक्ति के महत्व को उजागर करने हेतु 'शक्तिमयी' (काव्यचयनिका) प्रकाशित की गई। तत्पश्चात् राष्ट्रसेवा की दृष्टि से काव्यचयनिका 'राष्ट्रव्यंजना' प्रकाशित हुई। रचयिता की पंचम काव्यकृति के रूप में कालशक्ति सम्बन्धी यह 'युगान्तर' नामक प्रयोगात्मक महाकाव्य प्रस्तुत है। परिस्थितियाँ अनुकूल हो पाने पर अन्य कृतियाँ भी प्रकाशित हो सकेंगी। अभी प्रयोगात्मक महाकाव्य 'लोकायन' मुद्रणार्थ दिया गया है और 'राष्ट्र-शतक' की पाण्डुलिपि तैयार की जा रही है।

सम्प्रति अपने पत्रकारिता-संस्मरणों का क्रम भी चलाना पड़ रहा है। उसे लखनऊ का साहित्यिक मासिक पत्र 'सानुबन्ध' धारावाहिक रूप में प्रकाशित कर रहा है। इन संस्मरणों के पाठकों का आग्रह हैं कि मैं अपनी सम्पूर्ण आत्मकथा लिख दूँ। मैं कृपालु पाठकों का आदेश कार्यान्वित करने का प्रयास करूँगा। यों मेरी प्रवृत्ति इतिवृत्तात्मकता की ओर उन्मुख नहीं रहती। यही कारण है कि 'युगान्तर' में भी इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति को महत्व नहीं प्राप्त है।

जो कृपालु पाठक इस चर्चा को अप्रासंगिक मानेंगे उनसे क्षमायाचना करते हुए 'युगान्तर' की यथासम्भव प्रासंगिक चर्चा प्रस्तुत की जा रही है। जो प्रारम्भिक नैसर्गिक प्रवृत्ति मानव में रहती है वह है जिज्ञासा। प्रायः सभी भाषाओं के आरम्भिक वाङ्मय में इसका उल्लेख सुलभ है। अतः इस सर्वसम्मत अथवा विश्व-सम्भत विषय को प्रथम सर्ग का स्थान दिया गया है। क्रमशः (२) ज्योतिष्प्रयास, (३) व्रीड़ा, (४) प्रगति, (५) चित्रपथ, (६) संगर-पथ, (७) शान्तियात्रा, (८) संस्कृति-सौरभ और (९) समन्वय-चक्र को परवर्त्ती सर्गों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रचयिता ने अंग्रेजी भाषा में सुलभ मानव-विकास सम्बन्धी वाङ्मय के सारे खण्डों को मँगाकर अध्ययन किया यद्यपि वह अतिशय व्ययसाध्य है। उनके सार तत्वों को इस काव्यकृति में स्थान देते हुए निजी निष्कर्षों को भी रचयिता ने समाहित किया है। किन्तु इस बात का ध्यान रखा गया है कि काव्य कला है, इतिहास नहीं इतिहास में जहाँ घटनाक्रम की प्रमुखता होती है वहाँ काव्य में भावनाओं की प्रधानता रहती है। यों इतिहास-लेखन के सम्बन्ध में भी नवीनतम संचेतना यह है कि उसमें समाज की प्रवृत्तियों की प्रधानता होनी चाहिए।

जहाँ तक मानवसमाज-विकासप्रक्रिया का प्रश्न हैं, यह सामाजिक तथा आर्थिक प्रक्रिया के संग-संग वैज्ञानिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक भी है। समन्वित विकास की परिणति क्रमशः व्यापक समन्वय-चक्र के रूप में हुई है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के कामना-बिन्दु से क्रमशः आगे बढ़ते हुए समन्वय के व्यापक क्षितिज तक इसका पहुँचना सर्वथा स्वाभाविक है। प्रकाश-चक्र में आ जाने पर व्रीड़ा का उदय भी नैसर्गिक रूप में होता है। इस व्रीड़ाबोध के कारण मनुष्य ने आच्छादन की आवश्यकता अनुभव की। आवश्यकता तो आविष्कार की जननी है ही, अतएव क्रमशः बल्कल से लेकर स्वनिर्मित वस्त्रों तक का अनुभव मानव करने लगा। सइ आविष्कार का कारण व्रीड़ा अथवा लज्जा ही है। मनुष्य को कोई अमनुष्योचित कार्य

करने पर लज्जित होना ही चाहिए। यह व्रीड़ा मानव को अमानुषिकता, दुर्जनता, अश्लीलता आदि दोषों से मुक्त रहने की उत्प्रेरणा देती है।

चित्रलिपि का आविष्कार, तदुपरान्त भाषा-लिपि का आविष्कार, फिर भाषा एवं साहित्य का आविष्कार। इस क्रम में मानव-समाज को न जाने कितनी सहस्राब्दियाँ व्यतीत करनी पड़ीं। बीस सहस्राब्दियों तक का अनुमान मानव-सभ्यता के इतिहासकार लगाते हैं। परन्तु अनुमान तो अनुमान ही है, कोई सुनिश्चित अंकगणित तो है नहीं। जो हो, भाषा और साहित्य तक की विकास-यात्रा मनुष्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यात्रा है। भाषा साहित्य की जननी है और सर्वदा रहेगी। अदएव इसका महत्त्व कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकता। भाषा ही तो संस्कृति एवं भावों को वाणी प्रदान कर सकी और वाणी बनी सभ्यता के साथ-साथ विज्ञान की भी। मानव-विकास में सभ्यता की अहम भूमिका रही है। सभ्यता के विकास-क्रम के साथ मनुष्य का अस्तित्व एवं सुख-सुविधा-साधन-विकास सम्भव हुआ। ये सब विज्ञान की देन हैं। संस्कृति और विज्ञान अथवा कला और विज्ञान परस्पर पूरक तथा सहयोगी हैं। ये जीवन-रथ के दो चक्रों की भाँति रहे हैं। सभ्यता और विज्ञान अर्थात् मानव के बाह्य स्वरूप के विकास-साधन। इसी प्रकार संस्कृति और साहित्य अर्थात् मानवों के आन्तरिक स्वरूप के विकासक तथा प्रकाशक साधन। मानव-समाज ने मानवीय मूल्यों का निरूपण साहित्य एवं संस्कृति ने सहस्राब्दियों के विकास-क्रम में किया हैं। परन्तु खेद है कि आज भी इन अमृत मूल्यों की उपेक्षा की जाती है। यदि मानवीय मूल्य ही न हों तो मानवता कहाँ? और मानवता ही नहीं तो मानव कहाँ?

जनसंख्या-वृद्धि के क्रम में युद्ध-प्रवृत्ति की उत्पत्ति भी स्वाभाविक थी। आज जनगणना के माध्यम से जनसंख्या निर्धारित की जाती है! किन्तु आज भी प्रश्न है

ही कि जनसंख्या में सज्जन-संख्या कितनी रहती है। जो हो, अनेक युद्धों के होते रहने पर भी मानव-समाज युद्धों से पराजित न हुआ। वह युद्धजेता ही बना रहा। मानव तो प्रत्यक्षतः पराजेय भी होते रहे, परन्तु मानवता अपराजिता बनी रही। यही कारण है कि युद्धों में जय-पराजय के पश्चात् वास्तविक विजचिनी शान्ति ही रही। वस्तुतः शान्ति ही जीवन की जननी एवं सरक्षिका है; अशान्ति तो मृत्यु की ही जनयित्री है। इस वास्तविक अनुभूति के कारण मनुष्यजाति को एकता, सह-अस्तित्व और सहजीवन के अमृत एवं ज्योतिर्मय पथों का पथिक बनना पड़ा।

मानव-समाज का विकास-चक्र पारस्परिक सहयोग और सेवा-सहायता के पथों से होता हुआ सामंजस्य एवं समन्वय-चक्र तक पहुँचा है। इन चक्रों की गति को अनवरुद्ध रखते हुए इन्हें अनवरत आगे बढ़ाते जाना है। इस प्रगति में ही मानव-समाज की प्रगति सन्निहित है। मानव में न तो बाह्य ऊर्जा का अभाव है और न आन्तरिक ऊर्जा का। परमाणु में भी ब्रह्माण्ड-ऊर्जा निहित है। विज्ञान भी 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की उक्ति को प्रमाणित करता है। कम्प्यूटर, रोबोट, अतिस्बन आदि का आविष्कार और उपयोग हो रहा है। महा-दार्शनिक योगिराज श्री अरविन्द ने अतिमानसवाद की संचेतना प्रदान की। निरन्तर नैतिक एवं आत्मिक विकास के माध्यम से मानव इस ज्योतिर्बिन्दु तक पहुँच सकता है। आवश्यकता है आध्यात्मिक चेतना की अविरत-अनवच्छिन्न गति को कार्यान्वित करते रहने की। अध्यात्म का शाब्दिक स्वरूप ही पर्याप्त नहीं हो सकता। उसे कार्यन्वित करना भी आवश्यक है। तभी मानव चिन्मय चेतना का अधिकारी बन सकता है। और तभी मानव-एकता एवं विश्व-एकता की संस्थापना सम्भव हो सकती हैं। अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय एकता के माध्यम से वैश्विक एकता का संस्थापन हमारा अभीष्ट होना ही चाहिए। ऐक्य-चेतना की यह परिणति अनिवार्य मानी जानी चाहिए। मानव संसार में सामाजिक प्राणी के रूप में आया है तो समान के प्रति उसके कतिपय कर्त्तव्य एवं दायित्व भी हैं। पर्यावरण से लेकर परम तत्वबोध तक उसके कर्त्तव्य

तथा दायित्वों की परिधि विस्तृत है। केवल धनोपार्जन हेतु वह विश्व में नहीं आया है। यहाँ सर्वथा व्यष्टि अथवा समष्टि के रूप में कुछ भी नहीं है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध एवं पारस्परिक एकत्व है। अतः दोनों में से कोई भी उपेक्षणीय नहीं है। अभेद की इस चेतना की अनुभूति और कार्यान्विति में ही मानवीयता है। मेरी यह संस्थापना 'गणदेवता' नामक कविता-संग्रह की 'प्रतिध्वनि' शीर्षक रचना में भी ध्वनित है। राजा एवं प्रजा अर्थात् शासक एवं शासित की इस अभिन्नता को मैंने प्रबन्ध-काव्य 'अशोक' में सम्राट् अशोक के मुख से ही मुखरित कराया है—

'मैं राजमुकुट बेचूँगा देने भूखों को भोजन;
चाहिए वस्त्र नंगों को, मैं बेचूँगा सिंहासन।

यही अभिन्नता 'शक्तिमयी' नामक काव्य-चयनिका में नर-नारी-अभिन्नता, एकता एवं समानता के रूप में व्यक्त हुई है। इसी प्रकार लोकशक्ति सम्बन्धी 'लोकायन' नामक प्रयोगात्मक महाकाव्य भी लिखित है जो अर्थभाव के कारण अप्रकाशित है। आशान्वित हूँ कि लोकसहयोग से वह प्रकाशित हो सकेगा। 'निराशा' मेरे शब्दकोश में नहीं है। अस्तु।

अर्थाभाव की स्थिति में संक्षिप्त प्रावकथन ही सम्भव है। अतः विस्तारेच्छा का संवरण करते हुए मैं समस्त उत्प्रेरक एवं सहयोगी सज्जनों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करता हूँ। मैं प्रेस के स्वामी श्री रामबालक प्रसाद तथा समस्त कर्मचारियों का भी आभारी हुँ कि उन्होंने यथासम्भव सहयोग देने में कोताही न की। अपनी त्रुटियों के लिए क्षमायाचना करते हुए मैं इस निवेदन का समापन करता हूँ।

शिवाजी-जयन्ती,
शुद्ध वैशाख शुक्ल १, सं० २०४८
दिनांक १५ मई, १९९१ ई०

रामदयाल पाण्डेय
'देवगीत', आशियानानगर,
पटना—८०००१४

'युगान्तर'

(प्रयोगात्मक महाकाव्य)

१. सर्ग—१ : जिज्ञासा

मानव करता है जन्म-ग्रहण,
तो कोई तो होगी जननी;
होंगे ही एक जनक भी तो,
हाँ, भरी तभी तो है अवनी।

जाने कितने युग - कल्प गये,
कितने सहस्र वर्षों के स्तर;
करते ही आये हैं विकास
भव का, मिल-जुलकर, नारी-नर।

था कौन आदि में पिता, और,
थी कौन आदि माता, न ज्ञात;
तो कैसे नाम बता पाये
कोई, कैसे वे हुए ख्यात ?

लेते हैं, जग में कई नाम;
दो के कैसे हों नाम अमित ?
यह-नाम रंग का क्या विवाद
जब नहीं किसी को दृष्टि-विदित ?

यह नाम-रंग का ही विवाद
बढ़कर बढ़ता है कलह-युद्ध;
मानता किसे है कौन ? स्वयं
को ही कहते हैं श्रेष्ठ-शुद्ध ।

चल रहा भयंकर नाम-युद्ध;
है रंग-युद्ध भी अति भीषण;
जो आरम्भिक है बिन्दु, वही
कल बनता क्या न कार्य-कारण ?

चाहे जो भी हों रंग रहे,
चाहे जो भी हों रहे नाम;
अर्पित हैं आदि जनक-जननी
को कवि के सादर शत प्रणाम् ।

चाहे जो भी हो देश रहा;
क्या कलह भला इसपर करना ?
क्यों करे आक्रमण कोई भी ?
निश्चित ही है सबका मरना ।

आते जाओ, जीते जाओ,
कर्त्तव्य यहाँ करते जाओ;
यह कलश नहीं हो रिक्त कभी;
सप्रेम इसे भरते जाओ ।

सागर-निर्झर में जीव-जन्तु;
पर्वत-भूतल पर थे अरण्य;
जीवन-यापन के ये साधन;
अनिवार्य नहीं थी वस्तु अन्य ।

जनयित्री का था एक रंग,
थे भिन्न रंग के आदि पिता;
दोनों से रंग हुए दो, तो
बन गई स्वयं प्यारी कविता ।

दो रंगों के सम्मिश्रण से
बन जाता कोई भिन्न रंग;
सौन्दर्य और आकर्षण का
बन गया स्वयं कारण अनंग ।

चाहे हम अंग-अनंग कहें;
अथवा बोलें हम पुरुष-प्रकृति;
दोनों के ही सहयोग-योग
से विकसित सृष्टि और संस्कृति।

सभ्यता और संस्कृति में भी
पूर्वापर का है क्या विवाद?
चिर सामंजस्य-समन्वय से
मुखरित है जीवन का निनाद।

अस्तित्व-प्रश्न था सर्व-प्रथम;
कैसे होगा जीवन-यापन?
कैसे मानव कर पायेगा
शीतातप, वर्षा आदि सहन?

है जहाँ समस्या, क्या न वहीं
रहता सदैव है समाधान?
है जहाँ चाह, क्या राह नहीं?
क्या नहीं व्याधि का है निदान?

हैं क्षुधा-तृषा अनिवार्य, किन्तु
क्या है अभाव यदि हों दो तन?
देते हैं विपिन सदा कुछ फल;
निर्झर देते हैं जल-साधन।

करते रक्षा वर्षातप से,
देखा, तरु देते हैं छाया;
करते हैं शीत-निवारण भी;
रक्षित होती मानव-काया।

नर भी तो कुछ पुरुषार्थ करे;
विहगों-सा नीड़ बना सकता;
प्राकृतिक कोप से रक्षा कर,
कुछ तो आनन्द मना सकता।

अनुकरण प्रकृति सिखलाती है;
कुछ करने लगता मानव-श्रम;
कुछ उटज नीड़वत् निर्मित कर,
दिखला पाता अपना उद्यम।

भौतिक गति का है मार्ग यही;
है यही सभ्यता का उद्गम;
इस भाँति प्रगति करने लगता
मानव का जीवन-यौवन-क्रम।

देखा मनुष्य ने यत्र-तत्र
धरती से निकल रहा था जल;
सोचा, कुछ खनन-उत्खनन से
मिल सकता स्यात् नीर-सा फल।

यह भी देखा जल-सिक्त धरा
कुछ उद्भिद देने लगती है;
लग सका कि सिंचन से भूमा
की सृजन-चेतना जगती है।

उस काल कहाँ विधिवत् चिन्तन?
पर मनुज-प्रकृति में निहित सभी;
प्रज्ञा-विवेक निर्भयता जब
हों, सम्भव है पुरुषार्थ तभी।

सर्वोपरि तो है सत्य कि नर
है रहा पराक्रम से जीवित;
पुरुषार्थ बनाता है यथार्थ
जो कुछ भी रहता है कल्पित।

मानव में कुछ शक्तियाँ निहित;
शिक्षा कर पाई है विकास;
है मनुज नहीं कर पाया कुछ
भी बिना किये श्रम, अनायास।

चलने लगते ज्यों चरण स्वयं,
श्रम भी करने लगते हैं कर;
इस भाँति कर सका शुभारम्भ
सभ्यता-कर्म का कर्मठ नर।

देखा उसने जल रहा अनल,
हो रहा दारु का जब घर्षण;
सोचा उसने, हम भी तो कर
सकते यों ही कुछ वह्न-सृजन।

आलोक चाहिए ही जग में;
जीवन तमिस्र का नहीं नाम;
मानव का पथ हो ज्योतिर्मय;
तो हो सकता वह पूर्णकाम।

हो कृष्ण पक्ष या शुक्ल पक्ष,
रजनी में होता है कुछ तम;
इसलिए रज्जु में भी नर को
हो जाता है विषधर का भ्रम।

कैसे रवि-शशि देते प्रकाश;
तब तो ये दोनों थे अनाम;
इनको न खींचकर ला सकता
भूतल पर कोई शक्तिधाम।

कैसे इनकी कुछ शक्ति मिले;
मानव में उत्कण्ठा अपार;
हो कभी नहीं आलोकशून्य
वसुधा का कण भी, था विचार।

हाँ, था विचार, मनुजों में चिर
है रहती ही चिन्तन-प्रवृत्ति;
सक्रिय, गतिशीला रहती है
अनवरत मनुज की चित्त - वृत्ति।

यह वृत्ति जन्म के संग मिली;
है मिला चित्त भी जन्म-संग;
ढूँढ़ता जन्म से रहता है
मानव कुछ नूतन रंग-ढंग।

यदि जिज्ञासा न रहे मन में,
मानव को कैसे मिले ज्ञान?
सन्तुष्ट नहीं कर पाते हैं
जो मिले उसे तन और प्राण।

कुछ नये प्राण ढूँढ़ता सतत;
ढूँढ़ा करता नूतन शरीर;
इस हेतु सदा रहता ही है
नर नव जिज्ञासा से अधीर।

वह आदिकाल नर - जीवन का,
भाषा के साधन से वंचित;
थी अभिव्यक्ति की शक्ति नहीं;
अव्यक्त भाव थे किन्तु उदित।

भाषा हो अथवा न हो सुलभ;
होता है अन्तः - उद्वेलन;
अव्यक्त कहाँ रह सकता है
भाषा-अभाव में भी जीवन ?

भावों का नहीं अभाव कभी;
हो आदिकाल या मध्यकाल;
जैसे लघु काया में भी है
रहता मानव का मन विशाल।

हम कौन ? कहाँ से आये हैं ?
किस हेतु यहाँ अस्तित्व प्राप्त ?
कैसे हो रक्षा ? क्या करना ?
कब जिज्ञासा होगी समाप्त ?

२. सर्ग—२ : ज्योतिष्प्रयास

क्या रहे तमःपीड़ित जीवन ?
करते जायें क्या इसे सहन ?
कुछ तो प्रयास करना होगा;
करना है सम्भव उन्मूलन।

श्रद्धा से मिलता ज्ञान, और
मिलता प्रयत्न से समाधान;
जैसे है निर्झर का प्रवाह,
वैसे होता रहता निदान।

कुछ करें अनल उत्पन्न, और
देखें उसका प्रजनित प्रकाश;
मिलता प्रकाश तो तम हटता;
होता प्रमाद का है विनाश।

है यह प्रमाद ही महाशत्रु;
यह जीवन का भी है अराति;
न्यूनाधिक का है नहीं प्रश्न;
होती प्रमाद की क्या प्रजाति ?

थी घोर विकलता मानव में,
कैसे तमिस्र का करे अन्त ?
यह रवि-शशि पर अवलम्बित रह
यह ध्वान्त नहीं होगा अनन्त ?

नर में ऊर्जा सन्निहित सदा;
चाहिए मात्र उसका प्रयोग;
दुर्योगों के पथ से भी तो
चलकर मिल जाता है सुयोग।

हो चिनगारी उत्पन्न प्रथम;
उत्पन्न कभी होगी ज्वाला;
ज्यों लघु-लघु दीप जलाने से
बन जाती दीपों की माला।

पर प्रथम दीप किस भाँति बना,
यह बना आज भी है, अविदित;
अनुमान - कल्पना - साधन से
भी तो होता है पथ निर्मित।

हैं मिले चरण-कर तो मानव
कुछ तो चल सकता, कर सकता;
क्यों रिक्त रहे गागर जग की ?
किंचित् भी तो है भर सकता।

'चिर-चरैवेति' भावना जगी;
चढ़ गया मनुज गति के रथ पर;
कुछ कर्म को हुए कर उद्यत;
संचार हुआ उनका सत्वर।

प्रस्तुत मनुष्य हो कर्म हेतु
तो क्या न भला होता सम्भव ?
फल पर अधिकार नहीं होता;
पर सक्रियता में है गौरव।

कुछ ऐसी ही चेतना जगी;
नर में कुछ सक्रियता आई;
चलने से घिसने लगती है
कुछ तो अवश्य ही जड़ काई।

जड़ता - प्रमाद - निष्क्रियता का
मानव कर पाता अन्त जभी,
हो ही जाता कुछ समाधान,
नर पा सकता आलोक तभी।

आलोक चाहिए जीवन में;
जग में भी तो है आवश्यक;
इसके अभाव में क्या जीवन
हो सकता है पल भर सार्थक ?

है मनुज सर्वदा ऊर्जामय;
उसमें कर्त्तव्य-विकलता है;
जैसे पर्वत को तोड़-फोड़
निर्झर गतिमान निकलता है।

ऊर्जा, ऊर्जा, कितनी ऊर्जा ?
ऊर्जा-अभाव का क्या रोदन ?
जो बाहु सगति-सक्रिय होती,
करती है छिन्न वही बन्धन।

यदि रहे सजगता जीवन में,
कुछ तो होगी ही ज्योति प्राप्त;
कितना भी रहे तिमिर व्यापक,
मानव कर सकता है समाप्त।

चाहिए कर्म करना अवश्य;
करना पड़ता है उसे नियत;
यों ही करना क्या वांछनीय ?
रखना पड़ता उसको संयत।

चाहिए ज्योति, यह नियत हुआ;
आवश्यक यही प्रथमतः है;
जिस भाँति कर्म-कृति से पहले
अनिवार्य विचार अन्ततः है।

क्षणदा-तमिस्र से क्या होगा ?
उसमें प्रकाश लाना पड़ता;
जैसे गीतों की मुखरिति में
कण्ठों को हैं गाना पड़ता।

सर्वत्र और सर्वदा सुलभ
खद्योत भी नहीं हो पाते;
उनका प्रकाश भी स्वल्प-क्षणिक,
देखते-देखते बुझ जाते।

चाहिए अतः कुछ तो विकल्प;
चाहिए समस्या का निदान;
मानव का अन्तर्ज्ञान भला
क्या देगा भौतिक समाधान?

यदि रहे समस्या भौतिक तो
करना पड़ता भौतिक विधान;
भौतिक जीवन भी क्या उपेक्ष्य?
आवश्यक भौतिक प्रावधान।

नैसर्गिक आत्मज्ञान सदा
मनुजों में रहता है अवश्य;
पर भौतिक प्रविधि-प्रखरता भी
करनी पड़ती है उसे वश्य।

श्रद्धा न रहे यदि कार्यान्वित,
तो क्या है उसकी यथार्थता?
करना पड़ता है उसे सिद्ध,
मिलती तब उसको सार्थकता।

आलोक सदा श्रद्धेय, किन्तु
कुछ तो प्रयास करना पड़ता;
हो ही जाती विजिता सदैव;
नर है यदि बाधा से लड़ता।

था संकल्पी ही आदि मनुज;
थी दृढ़ता भी संकल्पों में;
क्या जड़ प्रमाद से पा सकता
वह ध्येय कभी युग-कल्पों में?

थी वर्षों की साधना लगी
जाने कितने थे लगे दशक!
जब हुई सिद्धि तो गर्वोन्नत
हो पाया कुछ मानव-मस्तक।

लगती छोटी-सी बात, किन्तु
उस काल बहुत ही भारी थी;
कैसे मिल पाती अग्नि कि जब
सम्भव न हुई चिनगारी थी?

घर्षित कर क्रमशः दारुखण्ड,
नर ने पाया था कभी अनल;
जैसे खोदते हुए भूतल
पा सका मनुज थोड़ा-सा जल।

श्रद्धा प्रकाश के प्रति नर में
होती नितान्त ही स्वाभाविक;
कुछ तो साफल्य मिलेगा ही,
अभ्यास करे यदि वह दैनिक।

क्यों निमिष मात्र भी सहे तिमिर?
यह सहन कहाँ मनुजोचित है?
पर सिद्धि कहाँ सम्भव होगी,
यदि नहीं प्रयास यथोचित है?

कहने में लगता समय स्वल्प,
करने में लगता बहुत समय;
आलोक नहीं यदि सुलभ रहे,
कैसे सम्भव रहना निर्भय?

होता तमिस्र भय-उत्पादक,
भय भी स्वाभाविक होता है;
वह नहीं किया जाता कदापि,
नर नहीं चाहकर रोता है।

रोने से चलता काम नहीं,
चलता न कभी है सोने से;
चाहिए सजगता सर्वदैव;
क्या सुलभ समय के खोने से?

क्या गणना है उन वर्षों की?
थे लगे स्यात् कतिपय वत्सर;
कुछ तिमिर हटा पाया मनुष्य
संघर्ष-पन्थ पर ही चल कर।

संघर्ष वह्नि-उत्पादक है;
बसता उसमें ऊर्जा-प्रसार;
है अनल सदा आलोक-जनक,
'दो अधिक ज्योति' नर की पुकार।

याचना नहीं कुछ दे सकती;
चाहिए प्रचेष्टा भी स्वकीय;
यदि न हो स्वच्छता का प्रयास,
जीवन होगा ही नारकीय।

क्या स्वर्ग और क्या नरक, नहीं
उस काल मनुज को रहा ज्ञात;
केवल प्रकाश-कामना रही;
चाहे हो जाये कशाघात।

मानव चाहे सब कुछ सह ले,
पर नहीं तिमिर को सह सकता;
हो ज्योतिर्धार प्रखर जितनी,
उसमें मनुष्य है रह सकता।

शम्पा-निपात हो भले, मनुज
कुछ तो प्रकाश पायेगा ही;
हो मुक्त तमिस्रा से, चलकर
कुछ आगे बढ़ जायेगा ही।

प्रच्छन्न भावना थी अतिशय;
इस हेतु ज्योति की जगी चाह;
नर ने प्रज्वलित अग्नि कर दी;
प्रस्तुत हो सहने को प्रदाह।

इस भाँति ज्योति का हुआ जन्म;
नर था अतिशय ही आह्लादित;
चरणों में जैसे नृत्य हुआ
मुखरित, मनुष्य था आप्यायित।

कैसी थी वह अनुभूति प्रथम;
वह प्रथम - प्रथम साफल्य - बोध;
आलोक - सुलभता सम्भव हो;
कुछ हो विकास के हेतु शोध।

कुछ ज्ञात नहीं था मानव को;
पर एक चेतना रही निहित;
चाहिए ज्योतिवत् कुछ अवश्य;
शशि-रवि से मानव था परिचित।

दीपक-सा कुछ निर्माण करे;
था कहाँ प्राप्त उसको कौशल?
चेतना मात्र इतनी ही थी,
चाहिए उसे जो हो प्रोज्ज्वल।

होता विकास क्या अकस्मात्?
क्रमशः ही सम्भव हो पाता;
यदि रहे लगन-निष्ठा अटूट,
तो कुछ अवश्य ही हो जाता।

होती ही है चिर वांछनीय
तम से प्रकाश की अच्छाई;
ज्यों रजनी के पश्चात् सुलभ
होती ऊषा की अरुणाई।

प्रत्यूष चाहिए ही नर को;
लोकोत्तर कुछ आलोक मिले;
यदि मिले कीच भी, सह लेगा,
यदि उसमें सरसिज सुमन खिले।

हो ज्योति सुलभ तो मनुज न क्या
कर सकता ज्योति अधिक सम्भव?
दो से कर सकता चार न क्या?
क्या सम्भव उसे नहीं गौरव?

चाहिए मानवों को गुरुत्व,
वे क्या लघुत्व - कामी होते?
गौरव-कामना सहज उनमें,
वे क्या रह सकते हैं सोते?

उस समय नहीं थी क्षमता यह;
पर बीज रूप था विद्यमान;
सर्वोपरि था यह सत्य, मनुज—
को होना है ज्योतिष्प्रधान।

यदि हो प्रकाश उत्पन्न, तभी
तो क्रमशः उसे बढ़ा सकते;
यदि ज्योतिर्लता सुलभ होगी,
तो ऊपर उसे चढ़ा सकते।

क्रमशः प्रयास यदि बढ़ता हो
तो सम्भावना बढ़ेगी ही;
क्रमशः आलोक-वृद्धि यदि हो,
तो गति परवान चढ़ेगी ही।

यदि हो रवि का अनुकरण, भला
है निहित रंच भी कहाँ दोष?
हो विभा-वृद्धि चाहे क्रमशः,
होगा क्षयिष्णु ही तिमिर-कोष।

था ज्ञान कहाँ? थी बस प्रवृत्ति;
पर है प्रवृत्ति परमावश्यक;
यदि नहीं रहे यह, नर कैसे
हो सकता आभा का रक्षक?

रक्षक ही नहीं, मनुज को तो
बनना है प्रभा-प्रवर्द्धक चिर;
हाँ, तभी जनों की कर्म-प्रगति
हो सकती है निश्चित, सुस्थिर।

है ज्योति चेतना की प्रतीक;
उस काल मनुज को कहाँ भान?
क्या ज्ञात उसे क्या है प्रमेय?
क्या कुछ कहलाता है प्रमाण?

पर कर्म सहज ही दिखलाता
अनिवार्य सदा अपना प्रभाव;
जैसे जल बढ़ने पर नद में
आ ही जाती है एक नाव।

है ज्योति स्वयं नौका बनती
तम की निर्झरिणी में सदैव;
बल अन्य नहीं हो तो क्या है?
बनता प्रकाश बल एकमेव।

इस कारण नर ज्योतिष्कामी;
भाषा-अभाव क्या है बाधक ?
इंगित करते हैं वही कार्य,
भावाभिव्यक्ति जो आवश्यक ।

पर तब इंगित भी कहाँ रहे ?
क्रमशः वे होने लगे व्यक्त;
थी अभिव्यक्ति मुख - इंगित से;
सर्वथा नहीं मानव अशक्त ।

दीपिका बनी रवि-शशि-अनुकृति;
हो गया विगत जब दीर्घ काल;
आलोक-शोध से मनुजों का
हो गया सहज ही दीप्त भाल ।

कुछ संख्या की हो गई प्रगति;
क्रमशः आया सहयोग-योग;
जीवन-यापन था एक प्रश्न;
तब था आकांक्षित नहीं भोग ।

●

३. सर्ग—३ : व्रीड़ा

नारी-नर में संकोच-प्रेम-व्रीड़ा-क्रीड़ा हैं नैसर्गिक;
आलोक प्राप्त हो जाने पर आता है मन में सद्विचार;
तन रहे नग्न तो होता ही है स्वाभाविक संकोच-भाव;
कुछ ऐसा था उस काल हुआ जब किया तमिस्रा पर प्रहार ।

चाहिए अंग पर आच्छादन, जग पड़ा भाव मानव-मन में;
हाँ, आच्छादन आवश्यक है, चाहे रहना हो निराहार;
आहार मनुज कर सकता था, जो सुलभ रहे हों कन्द-मूल;
पर आच्छादन का प्रश्न कठिन, थी लगी नग्नता दुर्निवार ।

हैं आज वस्त्र सर्वत्र सुलभ, पर थे अलभ्य उस काल निरे;
यह प्रश्न उदित होता मन में, क्यों हटा रहे हम निविड़ तिमिर?
आलोक प्राप्त होते ही है होता मन को नग्नता-बोध;
थे कहाँ 'नग्नता-वस्त्र' शब्द ? थे कहाँ शब्द ऋतुराज-शिशिर ?

पर उद्वेलन-सा था भीतर, आलोड़ित-सा था अन्तस्तल;
क्या करें हाय ? कैसे लज्जा-संकोच करें हम कार्यान्वित ?
थी बड़ी समस्या-सी लगती; दिखता न कहीं था समाधान;
ये शब्द समस्या-समाधान भी थे तब मानव को अविदित ।

था ऊहापोह कठिन मन में, लगती भीषण अफरा-तफरी;
कैसे ? कैसे हो समाधान ? था महाप्रश्न, अन्तर्मन्थन;
दिखता न कहीं यदि समाधान, लघु भी लगता है महाकाय;
ज्यों लोभ-दृष्टि में लगता है लघु धन भी जैसा धनपति-धन।

आच्छादन-साधन कहाँ मिलें ? कैसे ? क्या वे इसको समझें ?
ताकते चतुर्दिक् थे परन्तु कैसे-क्या हो ? कुछ नहीं ज्ञात;
पशु चरते थे तो धन वन में शाखा-पल्लव कुछ लग जाते;
चिन्तन करते-करते नर को हो गया ध्यान यह अकस्मात्।

इस भाँति चाहिए कुछ प्रयोग, अनुकरण भले का है वांछित,
यदि जन्तु कार्य करते सम्यक्, अनुकरण चाहिए ही करना;
अपने जीवन की रक्षा के सब हैं इच्छुक, सब अधिकारी;
चाहते गरलधर भी न कभी जीवन के घट में विष भरना।

यों विष भी करता कार्य, गरल की ओषधि बनता मात्र गरल;
मानव भी ऐसे बन पाते, ओषधि बनती उनकी वाणी;
उस काल कहाँ वाणी-भाषा ? यह तो उदाहरण है केवल;
थे चिन्ताग्रस्त मनुज कितने, मिल पायें पत्र घने धानी।

मानव विकास-पथ का यात्री, आगे बढ़ते ही जाना है,
रुक जाना तो है मरण सदृश, जीवन तो है करना सुधार;
गति-प्रगति-मार्ग से चलकर ही जीवन सार्थक हो पाता है;
सर्वदा मनुज में है वांछित संस्कार और कुछ परिष्कार।

यों ही तो नर को सुलभ नहीं हो पाते वन में हरित पत्र;
पर कैसे होंगे प्राप्त ? कार्य उनको पाने का था दुष्कर;
पशु प्राप्त उन्हें कर लेते हैं जैसे-तैसे, वे निर्विचार;
पर मानव तो चाहता कर्म करना जो हो शुभ और सुकर।

सबको कर सकता नहीं स्पर्श, कर सब तक पाते नहीं पहुँच;
लगता असाध्य था वही कार्य, जो आज हो गया सहज-सरल;
कुछ करे स्पर्श, कुछ हो प्रहार प्रस्तर का, वांछित है प्रयोग;
कर सकता है मानव अवश्य पाषाणों को भी मृदुल-तरल।

जाने कितना था समय लगा, तब कुछ प्रयोग हो सके सफल;
कुछ पल्लव गिरे प्रस्तरों से, कुछ उन्हें तोड़ पाये नर-कर।
मनुजों के लिए कठिन क्या है ? चिर बुद्धि सुलभ नैसर्गिक जब;
अमरत्व ढूँढ़कर ला सकते, हैं भले स्वयं भंगुर-नश्वर।

भंगुर मनुष्य है तो क्या है ? भंगुर तो है संसार अखिल;
मानव भंगुर हो स्वयं तोड़ ला सकता है नभ से तारे;
आरम्भ यही तो है, नर कर पाया सम्भव ज्वाला-रचना;
पाया न प्रशिक्षण उसने, पर प्रज्वलित कर दिये अंगारे ।

इस भाँति पल्लवों-शाखाओं को भी उसने कर दिया छिन्न;
पल्लव-दल को माना उसने जैसे हों हरित वसन प्यारे;
कर तिमिरपुंज को ज्योति-कुंज उसने दिखलाया चमत्कार;
वे मनुज कहाँ ? जिनके पौरुष, पुरुषार्थ और साहस हारे ।

क्रमश. सुधार, क्रमशः विकास, यह परम्परा है जीवन की;
इस भाँति प्रगति-गति मानव की हो गई सुनिश्चित निर्विवाद;
वह किसी प्रकार डाल पल्लव तन पर आच्छादन गया मान;
परिमाण अल्पतम होने पर भी ज्यों अच्छा लगता प्रसाद ।

कुछ तो आच्छादन हुआ, और क्रमशः सुधार भी होगा ही;
सन्तुष्ट हुआ नर इसे मान, थी त्वरा नहीं, थी नहीं ग्लानि;
थी मन माने की बात, अन्यथा कौन दोष देने को था ?
क्या प्रश्न लाभ का था ? होता यदि नहीं पर्ण-पट, कौन हानि ?

श्रद्धा, लज्जा, संकोच सभी तो हैं मनुष्यता के साधन;
मनुजों में हों यदि नहीं, कहाँ संज्ञा हो सकती है सार्थक ?
उस समय कौन सज्ञा देता ? थे शब्द कहाँ ? व्याकरण कहाँ ?
पर नर में तो चेतना-तत्त्व है जन्म-पूर्व से आवश्यक ।

यह आवश्यक ही नहीं, स्वतः होता ही है सन्निहित सदा;
भाषा हो अथवा नहीं, भाव रहता सदैव ही अन्तर्हित;
होता विकास क्रमशः इसका सभ्यता और संस्कृतियों से;
यह नैसर्गिकता तो रहती ही है आदि काल से ही संचित ।

मानव जेता है, निर्माता, करता ही आया है विकास;
क्रमशः बल्कल की ओर बढ़ा, देखा कि फोड़ते उसे विहग;
वह भी सकता है फोड़, वृक्ष के मूल भाग से या धड़ से;
सब कुछ साधन है, साध्य सदा होते हैं केवल कर्म सुभग ।

बढ़ते जाना ले कर्म-ध्वजा, चिर ध्येय यही मनुजों का है;
सिखलाता इनको कौन ? स्वयं ये शिक्षक और प्रशिक्षक हैं;
करते प्रयोग, करते गति-कृति, आगे क्रमशः बढ़ते आये;
जो निखिल जीवगण में सदैव रखते उन्नत निज मस्तक हैं ।

गति - यात्रा ही पर्याप्त नहीं; चाहिए सुमति-यात्रा भी तो;
ज्यों नहीं क्रांति हो वांछित है, सत्क्रांति सदा रहती वांछित,
अन्यथा क्रांति-उद्देश्य विफल; कर्त्ता हो जाता है असफल;
इतिहास क्रांतिकर्त्ताओं को कर देता है निन्दित-लांछित ।

उस समय क्रांति का बोध कहाँ ? व्रीड़ा-रक्षा की थी चिन्ता,
उद्वेग मात्र ही था प्रयास, थी एक विकलता-सी केवल,
हैं भिन्न अन्य जीवों से हम, अस्पष्ट चेतना-सी यह थी,
कुछ अन्य कहाँ संसाधन थे ? निज चरण-करों का ही सम्बल ।

अज्ञात बोध-सा था, तन को कुछ आच्छादित करना होगा,
कैसे होगा ? किस साधन से ? था नहीं ज्ञान-विज्ञान-बिन्दु,
जैसे प्रकाश के लिए कामना गुप्त और अन्तर्हित थी,
केवल उत्प्रेरक ही तो थे अम्बर में दिनमणि और इन्दु ।

चलना होगा, करना होगा, संकेत कहीं से आता था;
इंगित से कितना हो पाता ? फिर भी तो करना था प्रयत्न;
कितना भीषण, कितना घातक-मारक लगता है महासिन्धु,
मन्थन करने से, किन्तु वही तो दे पाता अनमोल रत्न ।

काया से भी बढ़कर मन है, आच्छादन आत्मनियंत्रण है;
तन को देता है शक्ति अशन, मन का सयम ही स्वच्छ वसन;
स्वच्छता अपेक्षित सतत, रहें अवयव यों चिन्तन-वचन-कर्म;
कुछ बन्धन तो आवश्यक हैं, छिन्नता हेतु हैं कुछ बन्धन ।

अम्बुधि अथाह, गर्जन-गभीर, उन्नत हैं पर्वत भीमकाय;
घाटियाँ श्याम-हरिताभ पुष्प-मण्डिता, मनोरम जल-प्रपात;
नर के उत्प्रेरक तत्त्व सभी, शृंगों पर हिम-श्वेताभ वस्त्र;
उत्प्रेरक पर्ण-सदन तरु पर, वन-सुमन रहे तब अनाघ्रात ।

पद होते हैं गति से सार्थक, कर सार्थक होते कर्मों से,
श्रम से ही साधित कर्म सदा, सम्बल है सदा मनुज का श्रम;
इस भाँति मनुज को मिली ज्योति, आच्छादन भी इसभाँति मिला;
आरम्भ हुआ है इसी भाँति मानव-जीवनरचना का क्रम ।

दे रहे तूल सेमल-कपास, मानव ने यह भी तो देखा;
सोचा, इनसे भी तो सम्भव हो सकता आच्छादन-साधन;
कैसे ? कितना ? था कहाँ ज्ञात ? क्रमशः विकास के चरण बढ़े;
क्या अकस्मात् मिल सकता है मनुजों को श्रम-साफल्य-सुमन ?

मन में बल रहता जन्मजात, उसका प्रयोग करना पड़ता;
जो आदिकाल से व्यक्त हुआ, कितना दुर्धर्ष मनोबल था !
यदि नहीं मनोबल रहता तो केवल तन ही क्या कर पाता ?
सर्वत्र शक्ति थी विद्यमान, पल एक नहीं कोलाहल था।

भाषा ही जब थी नहीं बनी, किसका प्रयोग सम्भव होता ?
केवल इंगित का सम्बल था; वाणी-विहीन ही था विस्मय;
कैसे ? किसकी संज्ञा देते ? उपमान कहाँ ? क्या सम्बोधन ?
क्रमशः पिपीलिका-गति से ही करता आया नर प्रगति-विजय।

है कठिन, असम्भव-सा कहना, अज्ञात काल की गति क्या थी ?
पर गति अवश्य थी, क्योंकि तभी तो वसुधा की हो सकी प्रगति;
क्रमशः उपयोग हुआ कुछ-कुछ प्राकृतिक साधनों का कतिपय;
निश्चित रहती है लगन और निष्ठा से कर्मी की उन्नति।

अभियानी में यदि रहे लगन, अभियान कहाँ असफल होता ?
आरोहण यदि चलता रहता तो हो ही जाता विजित शिखर;
कुछ कन्द-मूल, निर्झर-जल से, कुछ पर्ण और बल्कल-पट से
व्रीड़ारक्षा तो सम्भव थी कुछ, शनैः शनैः, मन्थर-मन्थर।

बीजों में जैसे विटप निहित, अंकुरित बीजवत् होता है;
क्रमशः बढ़ते-बढ़ते विशाल तरुवर जैसे बन जाता है;
उस भाँति मनुज का जीवन भी पल-पल, तिल-तिल बढ़ता रहता;
जब कण्ठ नहीं गाते, मानव का अन्तस्तल तो गाता है।

संस्कृति-यात्रा है कठिन, अरी ! वह ज्ञान-ज्योति-सापेक्ष सदा;
सभ्यता प्रकट हो ही जाती जब ज्योति जला नर पाता है;
यों समय साध्य ही है विकास, सभ्यता रहे या संस्कृति हो;
जैसे नाविक धीरे-धीरे नौका की प्रगति बढ़ाता है।

चलते - चलते, करते - करते हो सहस्राब्दियाँ हैं बीतीं;
सोते-सोते क्या हो पाता ? कर्मों से ही जीवन सम्भव;
गति हेतु चाहिए श्रम विशेष, सामान्य सफल क्या होता है ?
गुरुतम पुरुषार्थ-पराक्रम से ही सम्भव हो पाता गौरव।

यह सहस्राब्दियों की यात्रा है भला हुई क्या अनायास ?
कर सकता कौन महायायावर मनुकुल का है मूल्यांकन ?
यह कार्य कल्पना-सम्बल से भी साध्य नहीं हो पाता है;
अनुमान और संतर्कों से मिलते कुछ निष्कर्षों के कण।

संकल्पों से कुछ सुलभ हुआ; है जन्मजात संकल्प-शक्ति,
सभ्यता-दीप लेकर क्रमशः चलती रहती यात्रा नर की;
क्या किया जाय ? क्या हो पाये ? कैसे हो पाये ? प्रश्न कठिन;
सन्मार्ग-चेतना से ही तो है सिद्धि सत्य-शिव-सुन्दर की।

गत्यात्मकता है जन्मजात; वांछित प्रयोग उसका सदैव;
अभ्यास-शक्ति-गति से ही तो सम्भव हो सकती ध्येय-प्राप्ति;
रहना सचेष्ट है स्वाभाविक, चिन्ता-निवारिणी है चेष्टा;
अभ्यास-योग से होती ही आई है त्रुटियों की समाप्ति।

●

४ सर्ग—४ : प्रगति

कुछ और प्रगति, कुछ और ज्योति
चाहिए और गत्यात्मकता;
जाने कब उन्मूलित समूल
होगी मनुष्य की परवशता ?

क्यों हो निसर्ग पर निर्भरता ?
गत्यात्मकता नैसर्गिक है;
नर को तो वह भी करना है,
जो होता नहीं प्राकृतिक है।

मानव जीवों में सर्वोत्तम;
इसपर दायित्व अधिकतम है;
क्या कुछ असाध्य रहपायेगा
निष्ठामय यदि होता श्रम है ?

चाहिए लगन, संकल्प-शक्ति,
चाहिए कर्म-अभियान प्रबल;
क्या पर-निर्भरता रह सकती
यदि हो मनुष्य का श्रम-सम्बल ?

पर्याप्त नहीं यदि हो प्रकाश,
कैसे सम्भव है कर्म-प्रगति ?
बढ़ना होगा इस ओर सतत
साधते हुए जीवन-परिणति ।

विश्राम कहाँ ? व्यवधान कहाँ ?
गति को ही पन्थ बनाना है,
लक्ष्यों का अन्त नहीं होता,
आगे बढ़ते ही जाना है ।

लगता है, बढ़ती जाती थी
इस भाँति विकलता मानव की;
बस, यही कामना थी प्रतिपल,
क्या आकांक्षा थी वैभव की ?

चाहिए विभा की वर विभूति;
इससे बढ़कर क्या है वैभव ?
दे सकें विश्व को अधिक ज्योति;
क्या अन्य वस्तु में है गौरव ?

है प्रगति स्वयं उपलब्धि उच्च,
इसका सम्भव क्या मूल्यांकन !
बढ़ चला और बढ़ता आया
बढ़ता ही जायेगा जीवन ।

बढ़ते—बढ़ते निर्झर—धारा
बन ही जाती है रत्नाकर;
चढ़ते-चढ़ते चढ़ जाती है
लघु पिपीलिका भी पर्वत पर ।

गति की गति ज्यों रहती अनन्त,
रहता उसका परिमाण अमित;
उस काल किन्तु था बीज मात्र,
गति का स्वरूप भी था अविदित ।

अविदित हो अथवा हो अनुदित,
कुछ कार्य किया ही करती है,
ज्यों बिन्दु बनाते हैं रेखा,
बूँदें भी सागर भरती हैं ।

लगता था जो सीमित प्रकाश,
उसको क्रमशः बढ़ना ही था;
प्रत्यूष-काल का जो रवि था,
उसको ऊपर चढ़ना ही था।

करता प्रयत्न यदि है मनुष्य
तो रत्न कभी मिल जाता है;
सींचते-सींचते प्रस्तर को
भी सुमन कभी खिल जाता है।

हो गये एक से थे अनेक;
हो गईं समस्याएँ अनेक;
रहता अवश्य एकत्व जहाँ
मानव में रहता है विवेक।

हैं जहाँ समस्याएँ रहती,
रहते अवश्य ही समाधान;
संगीत जहाँ था ज्ञात नहीं,
था व्यक्त वहाँ भी सामगान।

जो ज्ञात रहा वह तो था ही,
अज्ञात भी नहीं बहुत दूर;
लग रहा निकट भी दूर, किन्तु
मानते दूर हैं कहाँ शूर ?

क्रमशः क्रमशः करके प्रयास,
कुछ शनैः शनैः बढ़ना ही था;
सोपान प्रगति के रच-रचकर
क्रमशः उनपर चढ़ना ही था।

यदि लड़े मनुज परवशता से
तो स्वतंत्रता पा जाता है;
जैसे विहंग पिंजर-विमुक्त
उन्मुक्त भाव से गाता है।

थे वाद्यगान उस काल कहाँ ?
कोकिल तो किन्तु रहे होंगे;
थे नहीं आदि कवि, छन्द नहीं;
नयनों से अश्रु बहे होंगे।

वह भी तो हँसता किसी समय
जो घोर विवशता में रोता;
होते-होते असफल मानव
अन्ततः सफल भी है होता।

कुछ चली परिस्थिति इसी भाँति;
है कहाँ भला लेखा - जोखा ?
माना नर ने खाया होगा
इस क्रम में बार कई धोखा।

उसकी भी गणना भला कहाँ ?
यह तो गति ही थी स्वाभाविक;
यह सहस्राब्दियोंका क्रम था;
जानता कौन है क्रम दैनिक ?

दे सकता क्या परिभाषाएँ ?
कर सकता व्याख्या भला कौन ?
यह मात्र वहाँ का विवरण है
इतिहास जहाँ था पूर्ण मौन।

कुछ बिन्दु दिखे होंगे आगे,
कुछ तो आलोक रहा होगा;
कोदण्ड चला होगा, नर का
कुछ शोणित-स्वेद बहा होगा।

यों ही जीवन क्या चल पाता ?
चिर स्वेद बहाना पड़ता है;
देना पड़ता निज रक्त, और
नर व्यवधानों से लड़ता है।

संघर्ष गर्भ से ही चलता;
करना पड़ता अस्तित्व-युद्ध;
अस्मिता बचानी पड़ती है;
रचना पड़ता व्यक्तित्व शुद्ध।

शुद्धता - सुरक्षा का व्रत है
होता कितना दुर्धर्ष, कठिन !
झेलने मनुज को पड़ते हैं
कितने आतप; कितने दुर्दिन !

संघर्ष-निरत नर होता है
दुर्दम्य, अजेय, जयी शाश्वत;
उत्सर्ग-विमण्डित रहकर ही
कर पाता पूर्ण कठिनतम व्रत।

यदि करे लोभ तो क्या अपनी
यात्रा पूरी कर पायेगा?
अवरुद्ध मार्ग में ही होगा,
अपना ईमान गँवायेगा।

वह देख नहीं पाता, जग से
है संग नहीं जाता साधन;
अमरत्व कर्मगत होता है;
नश्वरतामय होता जीवन।

आगे आने वालों के हित
पथ पूर्ण प्रशस्त बनाना है;
आद्यन्त कठिन श्रम करना है;
सन्मार्ग-प्रकाश जगाना है।

चल पड़ा मनुज तो चट्टानों—
ने हटकर उसको मार्ग दिया;
वनराजों ने, नीरवता ने
मुखरित होकर जयगान किया।

हाँ, शनैः शनैः संकल्पनिरत
मानव बढ़ता ही जायेगा;
आलोक ढूँढ़ता हुआ अधिक
अवनी पर उसको लायेगा।

पाताल फोड़कर भी जल की
धारा लायेगा भूतल पर;
क्या अध्यवसाय विफल होता?
क्या व्यर्थ कभी होता कवि-स्वर?

चाहिए धैर्य, चिर चिन्तन श्रम;
चाहिए कर्म-गति दुर्निवार;
होगी ही प्रगति सभ्यता की;
संस्कृति का होगा ही प्रसार।

सभ्यता और संस्कृति की गति
होती ही है चिर कालसाध्य;
सर्वस्व भले बाधित होता;
होता विकास इसका अबाध्य।

देखता इसे केवल भविष्य;
पाता न देख है वर्त्तमान;
इस पावन यात्रा में सदैव
रहना पड़ता है सावधान।

है कीर्त्तिमान अविरत प्रयास;
दुःखों से रहना अप्रतिहत;
चलते - चलते, करते - करते
होना पड़ता है क्षत-विक्षत।

क्या क्षति, उपलब्धि, उपार्जन क्या ?
है दोष कर्मगति का, श्रम का;
देखते लक्ष्य को चलना है;
आखेट नहीं होना भ्रम का।

चलती पिपीलिका तो गति की
चिन्ता क्या उसे सताती है ?
चिर अध्यवसाय - लगन से वह
आगे बढ़ती ही जाती है।

यह पिपीलिका नेतृत्व सतत
मानव का मार्ग - प्रदर्शक है;
नर करता यदि निष्ठा से श्रम,
होता प्रयत्न चिर सार्थक है।

है अध्यवसाय जहाँ करना,
व्यवसाय भला क्या करना है ?
वैफल्य भले हो प्रथम, किन्तु
फिर भी श्रम का घट भरना है।

जिस भाँति अखण्ड समय रहता,
उस भाँति अखण्ड प्रयास रहे;
जैसा भी रहा अतीत और;
जो आगत या कि भविष्य कहे।

कहने से क्या कुछ होता है ?
सब कुछ होता है करने से;
क्या कलश ? सिन्धु तक भर जाता
क्रमशः बूँदों के भरने से।

यह कितना व्यापक है प्रयत्न !
कितने व्यतीत हैं काल खण्ड;
चलता मनुष्य आया अब तक
ले अमित युगों का बल प्रचण्ड।

युग में क्या निज बल रहता है ?
उसका निर्माण किया जाता;
इस निर्मिति में क्या लेना है ?
अपना सर्वस्व दिया जाता।

सर्वोपरि है सन्तोष-हर्ष
अपना श्रम-फल दे देने का;
जग को देकर सिद्धियाँ निखिल,
उसकी असिद्धियाँ लेने का।

इतिहास बनाना पड़ता है;
यों ही इतिहास नहीं बनता;
उत्साह मनाता है उत्सव;
है उत्सव स्वतः नहीं मनता।

मानव भी बढ़ता रहा सतत
अपना उत्साह-विकास लिये;
कुछ और नहीं लेना चाहा;
वह चला कर्म-इतिहास लिये।

था कहाँ जानता नर आदिम
क्या कुछ करना होगा ? कैसे ?
चल पड़ा प्रगति का व्रत लेकर;
आगे बढ़ते जैसे-तैसे।

पर्वत - शृंगों से भी उन्नत
करते अपने कर्मों का ध्वज;
श्रम से क्रमशः करता आया
कंचन-परिणत पाषाण-कुरज।

रह स्वयं विनयनत, बढ़ा सतत;
उसमें था कोई दर्प नहीं;
व्याघ्रों से होता नहीं भीत;
प्रतिहत कर पाये सर्प नहीं ।

था ज्ञात उसे उपयोग नहीं;
अज्ञात सर्वथा कर्मयोग;
साधन जिजीविषा, अविरत श्रम;
उद्देश्य न किंचित् रहा भोग ।

था कौन प्रशिक्षक या शिक्षक ?
प्राकृतिक रूप था शिक्षामय;
देखते हुए चलना-करना,
देना था निज श्रम का परिचय।

उटजों से भवन लगे बनने;
बीजों से त्यों कृषि का उद्भव;
सर्वथा असम्भव-सा जो था,
होता आया क्रमशः सम्भव ।

संख्या भी बढ़ी मानवों की;
क्रमशः कुछ अपनापन आया;
एकता और सहृदयता का
क्रमशः स्वरूप नर ने पाया ।

लगने यह लगा कि सब मनुष्य
पशुओं से हैं दीखते भिन्न;
उनमें समानता निहित, किन्तु
फिर भी क्यों रहते पृथक्-छिन्न ?

करना है उनको युद्ध नहीं;
उनको न कभी है टकराना;
लेकर मनुष्यता-सम्बल ही
सम्भव हो सकता बच पाना ।

मिलजुल कर कुछ हो सकते हैं;
कर सकते हैं कुछ उत्पादन;
एकता-शक्ति से कर सकते
हैं छिन्न अभावों के बन्धन ।

हो जिज्ञासा, शिक्षाप्रवृत्ति,
तो नर गुण-बल है पा सकता;
चलते-चलते क्रमशः पथ पर,
है बहुत दूर तक जा सकता।

उच्चता शिखर-दल से सीखी;
सीखी मेघों से उदारता;
पृथ्वी से सहिष्णुता सीखी;
सीखी निर्झर से सहृदयता।

उड्डयन-भावना विहगों से,
वन-सुमनों से ली कोमलता;
कस्तूरी-मृग से ली सुगन्ध;
चन्द्रिका धवल से उज्ज्वलता;

एकता सीख ली बूँदों से,
जिनसे भर जाता रत्नाकर;
तारक निहारकर अम्बर में
जागी नर में कल्पना प्रखर।

कोकिल से सीखे मधुर गान,
कल नृत्य मयूरों से सीखे;
रंगों से सीखी रंगीनी,
नभ को रंजित करते दीखे।

झूमना विटप-गण से सीखा,
लहरों से सीख लिया गर्जन;
सीखी अँगड़ाई झंझा से;
पशुओं से सीख लिया चुम्बन।

है निहित प्रकृति में गुणवत्ता,
मानव जिसका संरक्षक है;
क्षिति, जल, समीर, पावक, नभ के
बल-वैभव का संवर्द्धक है।

है प्रकृति-विजेता भी मनुष्य;
अवगुण का सदा निवारक है;
क्यों शिलीभूत हो वसुन्धरा?
नर सतत अहिल्योद्धारक है।

देखा ऊष्मा से फल पकते;
देखा हिम होते हुए द्रवित;
परदुःख देख वह द्रवित, और
परसुख से त्यों होता हर्षित।

वह मृत्यु देखकर अमृत मंत्र
खोजने चला चिन्तन-सर में;
निष्ठा से, सतत परिश्रम से
पा सका सिद्धि कालान्तर में।

लेखन इसका है कठिन, अतः
अनुमेय मानकर चलना है;
खोजते हुए ज्योतिष्क अधिक
शाश्वत दीपकवत् जलना है।

है अप्रमेय का क्या प्रमाण?
अनुमान-जलधि का मन्थन है;
मानव में जबतक जीवन है,
जीवन में जबतक यौवन है।

५. सर्ग—५ : चित्रपथ

बीते यों अब्द सहस्र कई
गति के दुर्गम पथ पर चलते;
क्रमशः तमिस्र भी घटा बाह्य
सभ्यता-दीप जलते-जलते।

आलोक बढ़ा, उत्साह बढ़ा,
संकल्प बढ़ा कुछ करने का;
मानवता का व्यंजना-कलश
आन्तरिक अमृत से भरने का।

बढ़ गई विकलता अंतस् की,
पशुवत् जीना क्या जीना है?
देने को अमिय मनुजता को
वैषम्य-गरल को पीना है।

चाहता अनल ही मनुज नहीं;
चाहिए उसे शीतलता भी,
पाषाण-परुषता ही क्यों हो?
चाहिए सुमन-कोमलता भी।

चिर चित्र-विचित्र प्रकृति देखी,
उसके चित्रों पर ध्यान गया,
सोचा मनुष्य ने, भला नहीं
क्या दे सकता वह चित्र नया ?

क्रमशः रेखाएँ खींच-खींच,
अनुकृति कुछ करने लगा विरल,
लगती जो कठिन, असम्भव-सी,
क्रमशः लगने वह लगी सरल।

निर्झर, पर्वत, वन, फल, तरुगण
रेखाओं में करते अंकित,
ध्वनियाँ लीं सीख विहंगों की,
कुछ करने लगा उन्हें मुखरित।

व्यंजना पा रहा नर-जीवन
रेखाओं में, चित्रांकन में,
इस भाँति प्रवेश लगा करने
संस्कृति के मधुमय प्रांगण में।

औरों की सुखधारा में भी
कुछ-कुछ था मनुज लगा बहने;
दुख भी औरों के बाँट लगा
अपना ही मान, उन्हें सहने।

हैं प्रेम किया करते पशु भी;
पर व्यक्त नहीं कर पाते हैं;
मानव अपने चित्रांकन से
भी उसका रूप दिखाते हैं।

हाँ, चित्रांकन के सिवा अन्य
कोई भी पा न सका माध्यम;
कैसे दिखलाता प्रेम ? दिखाता
था दो नदियों का संगम।

लिपि तो थी नर को ज्ञात नहीं;
केवल रेखांकन करता था;
भावों को कैसे करे व्यक्त ?
नयनों में केवल भरता था।

देखा किसने था भला उसे ?
केवल अनुमान लगाना था;
क्रमशः बन गईं चित्र-लिपियाँ,
कुछ-कुछ उनको पहचाना था।

वे थीं अपूर्ण, पर भाव पूर्ण
उनमें भी थे मानव-मन के;
जैसे मृत्तिका सदा रखती
है तत्त्व विश्व के जीवन के।

तन का विकास हो भले नहो;
होता विकास अन्तस्तल का;
मध्याह्न-काल तक बढ़ता है;
जैसे आलोक अंशुदल का।

क्रमशः चलते, क्रमशः बढ़ते,
बढ़ गई चित्रशैली आगे;
यों बढ़ी चित्रलिपि भी क्रमशः,
जोड़ती प्रगति-गति के धागे।

भावों को कैसे करे व्यक्त,
यह प्रश्न मनुज के सम्मुख था;
भावना जन्म से मिली उसे,
अव्यक्त सदृश थी, यह दुख था।

यों इंगित से, संकेतों से
कुछ व्यक्त भाव हो जाते हैं;
वे रह सकते हैं नहीं दमित;
अपना स्वरूप दिखलाते हैं।

अव्यक्त रहें वे भले, किन्तु
उनकी आत्मा अव्यक्त नहीं,
वे अन्तर्व्यक्त रहा करते;
क्या दमित रहेंगे प्राण कहीं ?

हो नहीं बाह्य यदि अभिव्यक्ति,
नर में क्या भाव नहीं होते ?
हो नहीं व्यक्त स्मिति, अश्रु नहीं;
पर अन्तस्तल हँसते-रोते।

मानव क्या केवल क्षुधा-तृषा ?
सद्भावों का अधिकारी है;
अवदान विश्व को देता है;
वह संस्कृतिमय, संस्कारी है।

क्रमशः विकास है स्वाभाविक;
सब कुछ हो सकता नहीं त्वरित;
क्रमशः बढ़ता, उन्नत होता
आया वसुधा में मनुज-चरित।

मापी जा सकती सृष्टि निखिल;
पर काल कहाँ मापा जाता ?
इसका विस्तार अपरिमित है;
इसका न आदि कोई पाता।

इतना अवश्य है, परिष्कार
क्रमशः होता ही आया है;
हो बाह्य तमिस्र, प्रदूषण जो;
अन्तःप्रकाश तो छाया है।

काया भी होती नहीं त्याज्य;
नर ने रक्षा की है तन की;
क्रमशः रक्षित-विकसित करता
आया विभूतियाँ वह मन की।

मन का अम्बुधि कितना अपार !
भावों का पारावार अमित;
कैसे कर दे पूर्णतः व्यक्त
इस हेतु रहा सर्वदा व्यथित।

जितना भी व्यक्त करे, फिर भी
अव्यक्त बहुत रह जायेगा;
है कण्ठ-शक्ति सीमित नितान्त;
कितना मनुष्य गा पायेगा ?

है काल स्वयं देता विराम;
आता लोकान्तर, जन्मान्तर;
रह पाता समय कहाँ सुस्थिर ?
होता ही रहता कालान्तर।

कुछ नहीं असम्भव रह पाता;
सब कुछ सम्भव हो पाता है;
जल के किल्विप-कर्दम में भी
किंजल्क मृदुल खिल जाता है।

वनजन्तु-हृदय में भी मिलती
मनुजोचित उन्नत सहृदयता;
मिलती उदारता, सहायता;
सहयोग-भावना, कोमलता।

मानव जग में सर्वोपरि है;
इसकी क्षमता का अन्त नहीं;
जैसे कोकिल की क्षमता की
समता में कभी वसन्त नहीं।

कर सके पूर्णतः व्यक्त मनुज,
अव्यक्त न कुछ भी रह जाये;
अन्तस्तल-पिक का रुद्ध कण्ठ
कैसे समस्त कविता गाये?

पर करता नर पुरुषार्थ जहाँ
अवरोध-निरोधक, दृढ़निश्चय,
तो महाप्रलय को भी परास्त
कर देता है वह मृत्युंजय।

रेखाएँ बना बिन्दुओं से,
रेखाओं से रच सिन्धु-गगन,
पर्वत, सरोज, पंछी, तरुवर,
निर्झर का करता चित्रांकन।

कुछ भाव व्यक्त करता क्रमशः
रेखाओं से ही भूतल पर,
कुछ पाषाणों-चट्टानों पर,
शाखाओं पर, पल्लव-दल पर।

आगे बढ़कर पल्लव ही तो
लेखन के भी आधार बने,
बहिरंग भाव जो थे कोमल,
वे अन्तरंग में प्यार बने।

पर शब्द अभी थे कहाँ सुलभ ?
भाषा का कोई पता नहीं;
जो भावादित्य उदित होते,
रहते थे सीमाबद्ध वहीं ।

कैसे प्रकाश उनका व्यापक
विस्तृत हो जीवन-अम्बर में;
भावों को दे वाणी का बल,
थी शक्ति कहाँ ऐसी स्वर में ?

अनवरत यत्न जो करता है,
कुछ तो आगे बढ़ता ही है;
गिरि-आरोहण का व्रती कभी
तो शृंगों पर चढ़ता ही है ।

चलती निर्झर - धारा अजस्र
तो कुछ तो पन्थ बनाती है;
पर्वत - प्रपात की धार प्रखर
तल पर भी आ इठलाती है ।

अँगड़ाई लेती हुई रश्मि
सारी वसुधा पर छाती है,
जिसको करती है स्पर्श उसे
जाग्रत-जीवन्त बनाती है ।

हैं जीव मात्र ही प्राणवन्त;
लगता मनुष्य जीवेश्वर है;
करता प्राणान्वित वसुन्धरा;
उसका तन ही तो नश्वर है ।

है नष्ट कहाँ होता प्रयास ?
उद्देश्य विश्व का मंगल हो;
अवदान - दान - उत्सर्ग-कर्म
का यदि उसमें जीवन-बल हो ।

क्रमशः रेखांकन-चित्रांकन
ने रूप चित्रलिपि का पाया;
बढ़ती आई यों अभिव्यक्ति;
अवरुद्ध कण्ठ ने कुछ गाया ।

अव्यक्त व्यक्त-सा होता कुछ
तो व्यक्त रूप उसका होता;
संतोष कहाँ मिलता उससे ?
है निकल गर्भ से शिशु रोता।

यह पूर्व, मध्य, उत्तर का क्रम
क्रमशः चलता ही रहता है;
नर निज विकास-क्रम में जाने
कितनी असिद्धियाँ सहता है !

असफलता और सफलता का
क्रम प्रगति-मार्ग पर मिलता है;
कलिका के आते ही आते
क्या कुसुम कहीं भी खिलता है ?

साफल्य यत्न में किन्तु निहित;
क्रगशः वह रूप दिखाता है;
निष्ठा में कहाँ विफलता है ?
जो देता है वह पाता है।

करता प्रदान जो वही सदा
आदानों का अधिकारी ;
यह सृष्टि नहीं मेरी ही है,
त्यों ही यह नहीं तुम्हारी है।

जो भी आता है इस जग में,
कुछ कर्म उसे करने पड़ते;
कुछ परिष्कार-संस्कार-ज्योति
से कण-कण हैं भरने पड़ते।

यह परिष्कार-संस्कारकर्म
करता ही आया है मानव;
सन्निहित इसी में सार्थकता,
सन्निहित इसी में है गौरव।

इस जग में कुछ वैभव लेकर
नर भला कहाँ-कब आया है ?
क्रमशः सभ्यता और संस्कृति
देकर नर ने कुछ पाया है।

सर्वदा कठिन पथ है, परन्तु
अविराम मनुज चलता इसपर;
सर्वथा असह्य तमिस्र उसे;
चाहिए विश्व उसको भास्वर।

बिन्दुओं और रेखाओं से
अक्षर-प्रकाश उसने पाया,
इसमें बीते युग-कल्प अमित,
पर नहीं तनिक भी घबड़ाया।

क्या ऊब और क्या हो अधैर्य ?
क्या क्षोभ और क्या चिढ़ जाना ?
चिर कठिन साधना करनी थी;
संगीत सुगम क्या था गाना ?

होता वह कभी निराश नहीं;
नैराश्य मरण से है बदतर;
आशा का दीप जलाता ही
आया वह झंझावातों पर।

मानव की संज्ञा अमृतपुत्र,
यह विभापुत्र, भूतल-भास्कर;
है स्थूल देह ही तो नश्वर;
तन सूक्ष्म किन्तु है अजर-अमर।

क्षिति, जल, पावक, अम्बर, समीर
हैं स्थूल वपुष् के स्थूल घटक;
सूक्ष्मतर; उच्चतर और दिव्य
सत्कर्म-निरत मानव सार्थक।

आ गया कहाँ से है ? कैसे ?
यह प्रश्न व्यर्थ, है किसे ज्ञात ?
सम्पूर्ण दिवस हो मंगलमय,
चाहे जैसा भी हो प्रभात।

जो रहे आदि-अवसान, किन्तु
ज्योतिर्मय हो जीवन समस्त;
गुणवन्त, कर्ममय, प्राणवन्त,
मानवता-साधक रहे व्यस्त।

विज्ञान - कला - साहित्य - दीप
क्रमशः क्रमशः नर पा सकता;
इनका लेकर आलोकपुंज
अमरत्व-शिखर तक जा सकता।

भौतिक-आर्थिक बल आवश्यक;
पर सर्वोपरि आध्यात्मिक बल;
चढ़कर नैतिक सोपानों पर
जीवन हो सकता है उज्ज्वल।

पर इनका तो था दूर प्रश्न;
चेतना कहाँ तब सम्भव थी?
मिल सकें शब्द-लेखन-भाषा,
यह प्राप्ति नितान्त असम्भव-सी।

मिल सकी चित्रलिपि भी तो क्या
अक्षर-लिपि मिल पाई तुरन्त?
श्रम-समय-साधना-साध्य अमित;
थी सिद्धि-सफलता अति दुरन्त।

जनसंख्या की थी वृद्धि सहज,
होती ही रहती स्वाभाविक,
इस भाँति समस्या-वृद्धि और
संघर्ष हुआ करते दैनिक।

मानव को इनका समाधान
करके प्रयत्न लाना पड़ता;
निश्चेष्ट बैठकर क्या रहना?
श्रम-कौशल दिखलाना पड़ता।

इस क्रम में होता है विकास
नर के बौद्धिक-दैहिक बल का;
हार्दिक बल भी बढ़ता जाता;
जैसे विकास घन से जल का।

चाहिए साधना, साधन भी;
सन्तुलन परम आवश्यक है;
हो निष्ठा और लगन अविरत;
होता अभाव क्या बाधक है?

बढ़ती जाती थी प्रगति, और
बढ़ती जाती थीं बाधाएँ;
ज्यों होता जाता समाधान,
आती नवीन थीं विपदाएँ।

प्रतिवेशी थे आत्मीय अधिक;
दूरस्थ भिन्न कुछ लगते थे;
एकता-सूत्र-सा बनता था;
भिन्नता-भाव भी जगते थे।

एकत्व ढूँढ़ता है मनुष्य
भिन्नता-भाव के कानन में;
प्यारी अनेकता भी लगती;
वैविध्य भी रहे जीवन में।

चाहता मनुज सब रंग-रूप;
चाहता मिलें षट्रस-नवरस;
चाहिए इसे शबलित जीवन;
चाहता कुलिश भी रहे सरस।

क्या शताब्दियों की गणना हो?
बीते जब सहस्राब्द कितने;
जब अन्धकार में चलना हो,
तब कैसे कोई बात बने?

प्रत्यय देना सम्भाव्य कहाँ?
निष्कर्ष मात्र अनुमेय रहे;
जो असम्भाव्य - अनुचित न रहे,
निर्णय वह क्यों न प्रदेय रहे?

जो सत्यं - शिवं - सुन्दरम् हो,
उसपर कोई आपत्ति कहाँ?
वह पन्थ ग्राह्य करना पड़ता
हो इतर न कोई पन्थ जहाँ।

बन ही जाता है मार्ग सदा
कुछ तो मानव के चलने से;
जैसे निर्झर निःसृत होता
पर्वत-हिमराशि पिघलने से।

उत्थान-पतन क्रमशः गति से
रहते ही हैं आते-जाते;
बनते हैं प्रेम-एकता से;
टूटते घृणा से हैं नाते।

सम्बन्ध मनुज के नैसर्गिक;
चाहे जितने आयें विकार,
वे हैं शाश्वत अस्तित्ववान्;
होते रहते उनमें सुधार।

अन्ततः पराजय नहीं कहीं;
यह तो केवल जय-यात्रा है;
आकलन व्यर्थ, इसमें जय की
होती कब कितनी मात्रा है।

हों भले दिशाएँ चार या कि
दस भी हों, तो क्या अन्तर है?
ऋतुओं का जो भी हो स्वरूप,
वह तापमान पर निर्भर है।

●

६. सर्ग—६ : संगरपथ

जनसंख्या - वृद्धि जहाँ होती,
बढ़ती हैं वहाँ समस्याएँ;
जल के प्रभाव से बढ़ती ही
जाती हैं जैसे लतिकाएँ।

होते उत्पन्न प्रदूषण भी;
साधन-अभाव भी होता है;
व्याधियाँ जन्म लेती जातीं;
पीड़ित हो मानव रोता है।

शोषण भी होने लगता है;
टकराव जन्म लेने लगते;
घटने लगता है प्रेम - भाव;
कुछ घृणा - द्वेष मन में जगते।

बढ़ते विरोध, विप्लव क्रमशः;
होने लगती है रक्त-क्रान्ति,
क्षति होती शान्ति - सुरक्षा की;
बढ़ती जाती क्रमशः अशान्ति।

टकराने लगते स्वार्थ - भाव;
बढ़ने लगते दुर्भाव - कलह;
लगती है बढ़ने आकुलता;
होने लगता जीवन दुर्वह।

बढ़तीं विषाद की रेखाएँ,
चिन्ता की आती बाढ़ प्रबल;
टूटते धैर्य के बाँध, और
कुछ मनुज बढ़ाते हैं छल-बल।

सन्तुलन नष्ट होता सारा;
रह जाता कहीं नहीं संयम;
सर्वोपरि हैं सौजन्य-शान्ति,
यह सिद्ध सत्य लगता है भ्रम।

लगती अशान्ति ही अपरिहार्य;
आक्रमण दीखता न्यायोचित,
अन्याय-न्याय के बीच भेद
की रेखा हो जाती खण्डित।

आपाधापी, अफरा-तफरी;
चोरियाँ, डकैती; लूटपाट;
जन बनें असंयत-उच्छृंखल,
तो क्या बाधक होते कपाट?

जो रहते व्यक्ति अनाक्रामक,
वे करने लगते प्रतीकार,
आक्रामक व्यक्ति मानते हैं,
खण्डित है उनका दर्प-द्वार।

बढ़ता क्रमशः उन्माद घोर;
विस्फारित होता अहंकार;
बढ़ती अमानुषिक बर्बरता;
बढ़ता ही जाता अनाचार।

होते चीत्कार भयंकर हैं;
होता नृशंसता का ताण्डव;
उससे पशुता लज्जित होती;
जीवन लगता भीषण रौरव।

क्षत हो जाते हैं सद्विचार;
सद्भाव-छन्द खण्डित होते;
जाग्रत रहता जिनमें विवेक,
वे चिन्ताग्रस्त-विकल रोते।

कुछ व्यक्ति सोचते दण्ड-मार्ग,
कुछ अन्य बनाते विधि-विधान;
यदि नहीं निदान करे कोई,
तो कैसे होगा समाधान?

पर समाधान यों ही न मिला;
जाने कितने युग-कल्प गये;
इतिहास जोड़ पाता शताब्दियों—
में ही निज अध्याय नये।

चलता यदि मनुज युद्ध-पथ पर,
होता उसका अवरोध कठिन;
सहने समाज को पड़ते हैं
अगणित प्रलयंकर-से दुर्दिन।

क्या करे काल-गणना कोई?
साक्षी है इसका स्वयं काल;
है सिवा काल के कहाँ साक्ष्य?
जिसका विशालतम महाजाल।

है सुदीर्घतम जीवन-धारा
सम्मिलित अखिल धाराओं में;
क्या व्यक्त कभी हो सकती है
शब्दों, रंगों, रेखाओं में?

कुछ इधर गई, कुछ उधर गई;
जाने क्या दौड़ी किधर-किधर?
यह गई दिशाओं में असंख्य;
अगणित, अविदित चल पन्थों पर।

इतना अवश्य है, रही नहीं
लक्ष्मण-रेखाओं के भीतर;
तोड़ती चली दुर्गम-अगम्य
भूखण्ड, प्रचण्ड महागिरिवर।

कह सकता इसकी शक्ति कौन ?
है अकथनीय धारा अपार;
यह कठोरतम कुल वज्रों में,
तो बनी कभी यह सुमन-हार।

शृंगार - सुरस भी बनी कभी,
तो बनी कभी करुणा-धारा;
वीभत्स, भयानक, अद्भुत भी,
तो कभी हास्य का फव्वारा।

वीरत्वमयी, यह शान्तिमयी,
यह महारौद्र भी बनी कभी;
हो गई कभी चन्द्रिका-स्नात,
तो रक्तधार में सनी कभी।

है कहाँ लेखनी सुलभ कि जो
इसका सम्यक् लेखन कर दे ?
यह महाकाव्यगण से बढ़कर,
तूलिका कहाँ चित्रण कर दे ?

जीवन के कटु-मधु रहे बोल;
है कभी सुमुख, तो फिर दुर्मुख;
देता है दुःख असह्य कभी,
तो फिर देता है मधुमय सुख।

है दुराचार में युद्ध निहित;
है निहित द्वन्द्व दुर्मुखता में;
संघर्षों का रहता निवास
निश्चित नर की परवशता में।

कुछ व्यक्ति चाहते हैं, नरेश
वे हों, सारे जन बनें दास;
कोई भी सुखी-स्वतंत्र न हो
उन महीरुहों के आसपास।

चाहते, सुन्दरी मिले उन्हें,
या कंचन पर हो आधिपत्य;
रत्नाकर पी जायें समस्त,
वे बनें शक्तिशाली अगस्त्य।

चाहते, उन्हें हो उपनिवेश;
हो उनका ही विस्तारवाद;
साम्राज्यवाद - सम्राट् बनें,
गूँजे उनका जय-शंखनाद।

था कभी धर्म, थी कभी जाति;
था कभी क्षेत्र, तो कभी देश;
सुख-भोग चाहते थे समस्त;
चाहते कि सबको रहे क्लेश।

मानवता-शान्ति-सुसंस्कृति की
सुषमा आती कब अनायास?
वह अमित साधना से आती,
विकसित सुपुष्प देता सुवास।

संहार बिपुल उमड़ा अबाध;
उमड़ा अम्बुधिवत् रक्तपात;
आ गई अमावास्या दुरन्त;
पल भर को आता था प्रभात।

आते थे शान्ति-निमिष लघुतम;
थे महासमर-दल महाकार;
पल भर को आये प्रेमी घन;
संगर प्रलयंकर लगातार।

इस ओर अनल, उस ओर अनल;
किस भाँति बचे जीवन-कुटीर?
स्मित की रेखाएँ थीं अदृश्य;
चीत्कारग्रस्त जन थे अधीर।

हाहाकारों का तुमुल रोर;
व्यापक होते थे तुमुल युद्ध;
थी हुई असम्भव सहृदयता,
थे युद्ध-निशाचर महाक्रुद्ध।

लेखनी भला क्या लिख पाती?
कितनी विभीषिका थी व्यापक;
अनुमान भला क्या बन सकता
उस महादनुजता का मापक?

आती शताब्दियाँ रहीं, और
आये जन-धन के महानाश;
हो गई सभ्यताएँ विनष्ट;
हो गया दूर संस्कृति-प्रकाश।

लगता था पुनः मानवों का
आगमन नहीं होगा सम्भव;
जब मनुष्यता होगी समाप्त
तो कहाँ मनुजता का गौरव ?

पर आशा के रवि का नितान्त
क्या हो सकता है कभी अस्त ?
हो जितनी तिमिरमयी रजनी,
प्रातः समाप्त होती समस्त।

आदित्य उदित होता ही है;
निःशेष न करता उसे ध्वान्त;
विस्तृत होती जब दिवाज्योति,
आलोकित होता अखिल प्रान्त।

उत्थान, पतन, उत्थान, पतन;
निर्माण, ध्वंस, निर्माण, ध्वंस;
अन्ततः विजयिनी मानवता;
था जयी विश्ववंशावतंस।

पशुदल को करता हुआ विजित,
पशुता पर भी हो गया जयी;
विजयी है कोई यदा-कदा;
सर्वदा मनुजता विजयमयी।

कौशल से वन को बना ग्राम;
रचने लग गया नगर सुन्दर;
मानव अजेय सभ्यता-दूत
बढ़ता आया जीवन-पथ पर।

कितना विशाल, कितना व्यापक,
यह क्या कोई बतला सकता ?
इतिहास-गुहा दुर्गम अपार,
सर्वत्र कौन है जा सकता ?

किस भाँति बने थे अस्त्र-शस्त्र;
कैसे बन पाये रथ-वाहन ?
कैसे पशुओं पर हो सवार,
कर सका मनुज था भीषण रण ?

सब कुछ अनुमानातीत हुआ;
सब कुछ लगता कल्पनातीत;
बन गया हुताशन-जयी मनुज;
आग्नेय अस्त्र को सका जीत।

यह विजय - पराजय की यात्रा
क्रमशः चलती ही आई है;
नर ने सिंहों के भी आसन
पर चढ़कर ली अँगड़ाई है।

कौतुकवत् ही विज्ञान समझ,
उसका विकास करता आया;
जाने कितने रत्नाकर मथ
सभ्यता-रत्न को है पाया।

कुछ युद्ध सभ्यता हेतु हुए
वन, पर्वत, सागर, निर्झर से;
क्रमशः नौका-जलयान बने;
कुछ हुआ समर घन-अम्बर से।

कुछ यंत्र बने भूधराकार,
कुछ शान्ति-व्यवस्था हेतु तंत्र;
ढूँढ़ता आ रहा है तब से
मानव जीवन का अमृतमंत्र।

कैसे आते हैं झंझानिल ?
कैसे आते भूडोल प्रबल ?
वन में कैसे दावाग्नि घोर ?
जलनिधि में कैसे बड़वानल ?

इस अनल-अनिल का भी रहस्य
क्या जान सका जग अकस्मात् ?
बीते कितने ही सहस्राब्द,
तब कुछ रहस्य हो सका ज्ञात।

पशुओं को दे पालन-पोषण,
उनको भी वाहन बना दिया;
जो प्रबल शत्रुवत् रहे पूर्व,
उनसे भी अपना काम लिया।

संकल्प चाहिए चट्टानी;
भूधर अवश्य झुक जाता है;
बनता है वज्र कुसुमकोमल,
विषधर भी अमृत पिलाता है।

अन्यथा मित्र बनता अराति;
मृदु सुमन चुभाता है त्रिशूल;
मझधार कूल क्या बनी कभी ?
बन जाती है मझधार कूल।

यदि प्रीति-गीति अन्तर में हो,
बनती तरंग भी जलतरंग;
उत्साह चाहिए कुछ मन में;
चाहिए वेग, साहस, उमंग।

इस भाँति बढ़ी जनसंख्या तो
बढ़ती ही गईं समस्याएँ;
भूखण्ड मिले नित नये-नये;
हो गईं पराजित विपदाएँ।

था स्वाभाविक संघर्ष प्रबल;
बढ़ते जाते थे अस्त्र-शस्त्र;
चाहिए सुरक्षा जीवन की,
ज्यों तन-रक्षा के लिए वस्त्र।

आखेट मनुज को करना था,
तो अस्त्र शस्त्र आवश्यक थे;
इस भाग-दौड़ के क्रम में ही
भूखण्ड मिल रहे व्यापक थे।

वनफल भी मिलते जाते थे,
आखेट बन गया साधन था;
थे कहीं भूमिगत रजत-कोष;
तो कहीं चमकता कंचन था।

भूखण्डों के हित हुए युद्ध;
चाहे भू-तल हों अनुपयुक्त;
पशुओं के हित जो अस्त्र-शस्त्र,
वे हुए मानवों पर प्रयुक्त।

लड़ पड़े परस्पर ही मनुष्य;
कितना भीषण दुर्भाग्य हुआ!
सद्वृत्ति बढ़ी जब अन्तस् की,
कुछ उदित शान्ति-वैराग्य हुआ।

जीवन क्या लड़ते जाना है?
चाहिए चैन, चाहिए शान्ति;
सर्वस्व युद्ध-साम्राज्यवाद
है, कुछ विनष्ट हो गई भ्रान्ति।

निःशेष किन्तु हो सकी नहीं;
अब तक यह भ्रम चलता आया;
अनुताप रहा होगा परन्तु,
किस पथ पर मन है भरमाया?

यों अनुतापों से जो अतीत,
वह कहाँ लौटकर आता है?
पर रहे जुगुप्सा दुष्कृति के
प्रति तो भविष्य बन जाता है।

सत्कृति की सदा प्रशंसा हो,
दुष्कृति को समझें निन्दनीय;
गति-मति सुधारता जो रहता
निज नर होता वह वन्दनीय।

सत्पथ पर तभी प्रगति सम्भव
जग की इतनी हो पाई है;
चाहिए असत्-सत् का विवेक;
इसमें ही निहित भलाई है।

मानव अपूर्ण होता ही है;
पूर्णता-दिशा की ओर बढ़े;
जो गिरि-आरोहण करे नहीं,
किस भाँति भला वह शिखर चढ़े?

कर्त्तव्य चाहिए ही करना,
चाहे जैसा परिणाम रहे;
जितना भी धन इसमें हो व्यय;
जितना भी शोणित - स्वेद बहे।

लेकिन मनुष्य हो सकता है
निज शोणित का ही अधिकारी;
औरों का रुधिर बहाकर क्या
बन सकता वह महिमाधारी?

जीवों का जीवन रक्षणीय,
नर - जीवन आवश्यक विशेष;
चाहिए मनुजता की रक्षा;
गरिमा उसकी वांछित अशेष।

इसलिए युद्ध की है भर्त्सना;
चिर शान्ति-प्रीति हैं रक्षणीय;
वह कर्म भला क्या है करना
जो होता गर्हित, अकरणीय?

७. सर्ग—७ : शान्तियात्रा

शान्तियात्रा-पथ सदा है दीर्घ होता;
मनुज में निर्वेद का आना सुगम क्या?
सुख सदा है किन्तु इस पथ के पथिक को;
युद्ध देगा सुख, नहीं यह मात्र भ्रम क्या?

किन्तु मृगजल को दिशा में दौड़ते सब,
स्वर्ण सैकत को समझकर चाहते हैं;
तोल कितना रंग-सौरभ का सुमन के?
पूजना निष्प्राण प्रस्तर चाहते हैं।

शान्ति की सत्कामना क्रमशः जगी है;
और क्रमशः ही बढ़ी है कामना यह;
भार कुछ होता कहाँ है इस अमृत का?
किन्तु ढोता लोक विष का भार दुर्वह।

ज्योति का विस्तार कितना सूक्ष्म लगता?
पर तिमिर-विस्तार है कितना भयंकर?
सर्वदा दुष्कर्म होते ध्वान्त में हैं;
क्या चले दुष्कृत्य हैं आलोक - पथ पर?

जन्म देती युद्ध को नर की अहंता;
दर्प होता देह - बल का या कि धन का;
प्रबल जनबल भी अहंता का जनक है;
अनय उत्पादक सदा है विष - वमन का।

न्याय का पथ जब मनुज है छोड़ देता,
युद्ध की ज्वाला भयंकर जन्म लेती;
जो विवश होता कभी अन्याय - पीड़ित,
वह कभी है क्षुब्ध हो प्रतिशोध लेता।

न्याय हो स्वीकार तो फिर युद्ध क्यों हो ?
विनति हो तो क्यों भला हो दर्प मन में ?
मनुजता हो तो भला पशुता बढ़े क्यों ?
शुद्ध सह - अस्तित्व हो सकता न रण में।

कुछ रहें जीवित यहाँ तो कुछ मरें क्यों ?
कुछ करें भोजन, भला क्यों कुछ क्षुधित हों ?
कुछ करें सुखभोग सब, उत्सव मनायें;
और कुछ हों नग्न, शोषित या व्यथित क्यों ?

शान्ति का आवास क्या रणभूमि में है ?
सर्वदा है एकता - समता - मिलन में;
सुमन खिलते हैं कहाँ समरांगणों में ?
वे सदा खिलते सरोवर में, चमन में।

युद्ध देता श्रान्ति, क्लान्ति, मनोव्यथा है;
वह कहाँ विश्राम या सन्तोष देता ?
अन्ततः अनुताप, अतिशय ताप उसमें;
क्या विवेकी है कभी संग्राम लेता ?

विजित की ही क्षति नहीं होती समर में;
है विजेता भी कभी तो नष्ट होता;
एक पल चाहे जयी जन हँस रहा हो,
और चाहे जित मनुज पल एक रोता।

तृप्त करनी हो तृषा तो चाहिए जल;
है कभी संगर नहीं तृष्णा मिटाता;
अन्न - फल ही तो बुभुक्षा शान्त करते;
युद्ध में है मरण ही लीला दिखाता।

एक दिन उपराम हो जाना सहज है;
युद्ध से वैराग्य हो जाना सुनिश्चित;
दर्प का भी दमन होता एक दिन है;
क्या विजेता भी रहा चिर काल अविजित ?

शान्ति का आलोक आता है कभी तो;
है कभी तो प्रीति की बजती मुरलिका;
आज जो है दमित, मर्दित और कुण्ठित,
क्या खिलेगी कल नहीं वह सुमन - कलिका ?

जो पराक्रम घोर बाहु - प्रहार में है,
क्या नहीं कल बाहु - परिरम्भन बनेगा ?
जो नयन विक्षुब्ध करता अग्नि - वर्षण,
क्या नहीं कल प्रीति की जलधार देगा ?

युद्ध शाश्वत है नहीं, है शान्ति शाश्वत;
प्रेम शाश्वत भाव है अन्तःकरण का;
एकता - सहयोग ही जग में अमृत है;
समर कारण सर्वदा बनता मरण का।

आक्रमण करना भला क्या मनुजता है ?
न्याय, समता, शान्ति में ही वह निहित है;
प्रेम - पुष्पों में निहित सौरभ मनुज का;
अबल-रक्षा ही सबल का बल विहित है।

ध्वान्त से आक्रान्त होना चाहता कब ?
चाहता मन सर्वदा रहना विभामय;
व्याधिपीड़ा की कभी क्या कामना है ?
चाहिए रहना निरन्तर ही निरामय।

युद्ध का विज्ञान हो चाहे सुविकसित,
किन्तु उसका व्याप्तिमय दर्शन नहीं है;
लोभ से उत्पन्न होता आक्रमण है;
आक्रमण में पर कभी जीवन नहीं है।

आज आक्रामक बना, आक्रान्त कल है;
आक्रमण में शान्ति की रेखा नहीं है;
क्या कभी लुंठन-विभव स्थायित्व रखता ?
कलह में सुख मनुज ने देखा नहीं है।

युद्ध से उपराम होता ही रहा है;
सर्वदा मन शान्ति का कामी रहा है;
जानता है कौन कितनी विकलता से,
दुःखमय हो, समर-सकट को सहा है।

क्या नहीं यह घोर काल-विभीषिका है?
क्या इसे चुपचाप सह लेना सहज है?
हत रहा हो नर, भला तब क्या उसे सुख?
चाहता क्या मनुज पाना मृत्यु-रज है?

मरण होगा एक दिन, यह तो सुनिश्चित;
सृष्टि का दायित्व है कर्त्तव्य-पालन;
अवधि जीवन की भला खण्डित बने क्यों?
क्या भला विकलांग, क्षत-विक्षत बने तन?

चाहता सौन्दर्य मन, सुख चाहता है;
चाहता है प्राणमय निर्माण करना;
ध्वंस का विस्तार कब वह चाहता है?
चाहता है मृत्यु में भी प्राण भरना।

चाहता मन शान्ति का दर्शन चिरन्तन;
सर्वदा है शान्ति - सृष्टि - प्रयत्न वांछित;
निहित रहता है विकास प्रयास में ही;
विश्व में रहता नहीं कुछ पूर्वनिर्मित।

युद्ध से तो है रसा जाती रसातल;
चाहिए शुभ कर्म का दीपक जलाना;
सुरभि हो; आलोक हो, चिर स्वच्छता हो;
चाहिए सुख-शान्ति का नन्दन बनाना।

नाश भी क्या कर्म का पर्याय होता?
कर्म रक्षा, प्रेम और विकास में है;
वर्त्तमान - भविष्य भी हैं कर्म में ही;
कर्म क्या रहता बिगत इतिहास में है?

चाहिए चिर शान्ति को आगे बढ़ाना;
शान्ति के ही कर्म का यौवन जगाना;
क्या कभी तारुण्य-बल विध्वंस में है?
शान्ति - रक्षा में अभीप्सित बल दिखाना।

चाहिए होना निरत निर्माण में ही,
क्या कभी होना भला है युद्ध में रत ?
श्रेय जीवन का सुरक्षित शान्ति में ही;
शान्ति में ही मनुजता की ज्योति शाश्वत ।

प्रीति ही यदि हो नहीं, तो प्रेय क्या है ?
है निहित आनन्द का मकरन्द इसमें;
सत्य - शिव - सौन्दर्य की इसमें त्रिवेणी;
गूँजता है चिर अमृतमय छन्द इसमें ।

हो अभयता यदि नहीं, जीवन हँसे क्या ?
हो नहीं आनन्द तो शृंगार क्या है ?
यदि नहीं हो शान्ति की कारुण्यधारा,
तो विधेयात्मक हृदय-उद्‌गार क्या है ?

प्रखरता की प्रगति चिर आनन्द में है;
क्या कभी संहार है आनन्द देता ?
विघ्न, बाधा, भय, प्रलय - संकट रहे तो,
नर कहाँ सुख - चैन की है साँस लेता ?

मनुजता के मन-चरण हैं शान्ति-पन्थी,
युद्ध में तो निहित मानवता नहीं है;
नाश के, विध्वंस के आग्नेय नभ में
क्या उदित शुभ ज्योति-ध्रुवतारा कहीं है ?

बज रही मधुछन्द - वंशी जो विपिन में
क्या भला आखेट से बजती रहेगी ?
जन्तुओं में भी नहीं जो ध्वंस - लीला,
शान्ति - पुंज मनुष्यता कैसे सहेगी ?

वन - विटप भी रुदन करते छिन्नता से;
हृदय संवेदन - रहित सुनता कहीं है ?
एक भी प्रस्तर करे आघात यदि तो—
खिन्न तरू का मर्म क्या आहत नहीं है ?

भाव करुणा का निहित वन-जन्तु में भी;
तरुवरों में भी तितिक्षा सन्निहित है;
जब कभी है प्रबल अन्तस्ताप होता,
काँपती है मेदिनी, सबको विदित है ।

शान्ति है उन्नति सदा, है युद्ध अवनति;
अन्ततः यह सत्य शाश्वत समझता नर,
मारता जिसको वही क्या मृत्यु पाता ?
मारनेवाला कहाँ होता अनश्वर ?

प्रकृति है ऐसी, मनुज है भूलता भी,
आज है करता स्मरण, कल है भुलाता;
यह क्षणिक आवेश में पड़ युद्ध करता,
और फिर अनुताप में है डूब जाता।

यह भली है बात, प्रातः भूलकर पथ,
सांध्य वेला में पुनः घर लौटता है;
रात्रि में यदि है तिमिर से ग्रस्त होता,
प्राप्त करता दीप से पथ का पता है।

मात्र ध्रुवतारा दिशाबोधक नहीं है;
चेतना भी तो दिशा का ज्ञान देती;
साथ है देती सदा संचेतना ही;
सर्वदा कर्त्तव्य का वरदान देती।

आज जो बजती नहीं है शान्ति - वंशी,
क्या भला कल भी नहीं वह बज सकेगी ?
हो भले अवरोध पथ में पर्वतों का,
प्रगति-उन्नति निज क्रिया क्या छोड़ देगी ?

शान्ति-संगर-क्रम निरन्तर चल रहा जो,
सर्वदा इनमें बना अन्तर रहेगा;
एक सुख - अभ्युदय की जननी सदा है;
दूसरा दुख - दैन्य का कारण बनेगा।

सत्प्रयासों का सतत क्रम चाहिए ही,
लूटने से क्या कभी कुछ सुख मिलेगा ?
चाहिए सन्तोष अपने साधनों से,
मन - सुमन कैसे सताने से खिलेगा ?

न्याय - सीमा की भला अवहेलना क्यों ?
कर्म से भोजन मिले जो, वह सुखद है;
सुख नहीं देता किसी को दुःख देना;
स्वयं के हित ही अधिक वह दुःख - प्रद है।

कर्म से जो कुछ मिले, पर्याप्त है वह;
सर्वदैव सुकर्म शुभ निर्माण में है;
परहितों को छीन लेने में कहाँ सुख ?
वचन - शोभा मधुवचन - मधुगान में है।

चाहिए करनी सुरक्षा - सर्वरक्षा;
शान्ति की धारा सदा ही सुखमयी है;
क्या विजित करना किसी को विजय देता ?
आत्मजेता मनुज सर्वोपरि जयी है।

वृद्ध की, विकलांग की, शिशु की सुरक्षा
और सेवा ही सदा उत्तम रहेगी;
रुग्ण - सेवा और सेवा निर्धनों की;
मनुज - सेवा ही सदा सन्तोष देगी।

छोड़ सेवा - पथ भला क्यों युद्ध - पथ लें ?
अस्त्र-शस्त्रों से प्रलय क्या है मचाना ?
चाहिए मधुकुंज भूतल को बनाना;
सर्वदा ही शान्ति की मुरली बजाना।

युद्ध - ज्वाला पर जयी हों शान्ति के घन;
कामना के संग पूर्ण प्रयास वांछित;
ग्रीष्म के उत्तापमय वातावरण पर—
मेघ सावन के सदा होते अपेक्षित।

शिशिर - पल्लव के सदृश मानव गिरें क्यों ?
चाहिए नर - पल्लवों को चिर बचाना;
शान्ति का जयगान ही तो कवि करेंगे;
क्या नहीं कर्त्तव्य है मधुमास लाना ?

स्वस्थ हो ज्यों पुनः जन अस्वस्थ होते;
भूल करना बन्द कर फिर भूल करते;
भाँति इस होते कभी हैं शान्ति - कामी;
पुनः संगर की डगर पर चरण धरते।

आ रहा इस भाँति नर कल्पों - युगों से;
है यही आशा समर को छोड़ देगा;
एक दिन तो मनुज उन्नत मनुजता को—
पा सकेगा, युद्ध से मुख मोड़ लेगा।

यह नहीं कम है कि यह शुभ शान्ति-प्रिय है;
युद्ध के प्राबल्य को रहने न देगा;
शान्ति के शुभ संगठित - समवेत बल से—
युद्ध में निज रक्त को बहने न देगा।

रक्त जिसका भी बहे, बहता मनुज का;
एक ही तो जाति होती मानवों की;
यदि रहे चलता निरन्तर युद्ध का क्रम,
क्या नहीं चिर सृष्टि होगी ही शवों की ?

हो रहा पर्यावरण अतिशय प्रदूषित;
घोर युद्ध - विकार में जीना कठिन है;
श्वास लेना भी सुगम - सम्भव न लगता;
हो रहा अन्तःकरण कितना मलिन है ?

मनुज क्यों नर-भक्षियों से अधिक घातक ?
घोर हिंस्र प्रवृत्ति से कब मुक्त होगा ?
संगरों को यंत्रणा से विश्व पीड़ित;
प्रश्न है, कब नर प्रहार - वियुक्त होगा ?

८. सर्ग—८ : संस्कृति-सौरभ

शस्त्र के ही संग देता शास्त्र आया;
यंत्र के ही संग देता मंत्र मधुमय;
बाह्य बल के संग देता आ रहा है—
मनुज स्वान्तःशक्ति का आलोक-परिचय।

ज्ञान भौगोलिक बढ़ा, विज्ञान - बल भी;
चाहिए ही क्या नहीं सांस्कृतिक सुषमा ?
सृष्टि का है उच्चतम वरदान मानव;
सुलभ उसकी है नहीं उपयुक्त उपमा।

नर कहीं है नीरवत् क्या निम्नगामी ?
चाहता रहना सतत यह ऊर्ध्व गतिमय;
क्यों रहे आहार - निद्रामग्न पशुवत् ?
बन गया अध्यात्म-वाङ्मय-शिल्प - कृतिमय।

विहग और विमान करते उड्डयन जो,
उड्डयन मनुजत्व का चिर उच्चतम है;
प्रेम, सेवा, त्याग की सद्वृत्तियों का
अमृत वैभव विश्व में रहता चरम है।

विभव भौतिक, और बल हैं प्राथमिक ही;
शील की, शालीनता की शक्ति अनुपम;
विनय की, उत्सर्ग की जो ज्योति होती,
दे नहीं सकता उसे कोई उपक्रम।

एकता, सहयोग और समत्व से ही
मनुजता संसार में आगे बढ़ी है;
ये सभी वरदान संस्कृति के, इन्होंने
सर्वदा मनुजत्व की आत्मा गढ़ी है।

आत्मबल, नैतिक मनोबल के सहारे—
नर सदा चढ़ता रहा जीवन - शिखर पर;
क्या कभी तन और धन हैं परम होते ?
बढ़ सकी नर - ज्योति इनसे उत्तरोत्तर।

वर्णमाला, शब्द, भाषा, ब्याकरण का—
ज्ञान हो पाया सुलभ गुरु साधना से;
क्या पता इसमें लगा कितना समय है ?
प्राप्त हैं युग-कल्प की आराधना से।

ये नहीं हैं प्राप्त भोग - प्रवृत्तियों से;
लग गया इनमें युगों का वर तपोबल;
दुःख के, कठिनाइयों के मार्ग से ही
मिल सका है मनुज को यह प्राण - सम्बल।

इस महाअभियान में कितने लगे युग;
अंक - संख्या - साध्य यह गणना नहीं है;
अनवरत चलना पड़ा इस गहन पथ पर;
प्रगति प्रायः ही बनी छलना रही है।

किन्तु क्रमशः सीखता मानव रहा है—
चिर कला - साहित्य में सन्निहित सद्गुण;
समझ पाया शक्ति कविता की अपरिमित;
त्यागता क्रमशः चला पशुजन्य दुर्गुण।

रूप भौतिक है सदा पशु - पक्ष नर का;
दिव्य आत्मिक ज्योति में मनुजत्व होता;
चाहिए ही यह परम आलोक - धारा;
व्यक्त इससे ही सुपावन तत्त्व होता।

दान, करुणा, सन्तुलन, संयम अलौकिक
गुण सदा हों व्यक्त, यह संचेतना ली;
चिर अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह अपेक्षित;
युग - विधायक गुरुजनों ने प्रेरणा दी।

जैन तीर्थंकर रहें या हों तथागत,
प्रभु रहें ईसा कि हों हजरत मुहम्मद;
देव गुरु नानक कि हों गांधी महात्मा,
देन संस्कृति की सभी हैं चिर अमृत - प्रद।

युद्ध पर जयिनी हुई है शान्ति यों ही;
है कभी विजिता हुई तो फिर विजयिनी;
भाँति जिस पाती विजय है किल्विषों पर
सर्वदा ही सर उठाकर फुल्ल नलिनी।

तिमिर - क्षणदा पर जयी ज्यों दिवस होता,
विजयिनी होती प्रभा मनुजत्व की है;
सतत संस्कृति की विजय यों ही रही है;
स्थूलता पर विजय होती तत्त्व की है।

घोर गति से ही चला है सांस्कृतिक रथ;
अन्य गति में सन्निहित सन्मति कहाँ है ?
चिर समन्वय और सामंजस्य वांछित;
ये जहाँ रहते नहीं, दुर्गति वहाँ है।

क्रान्ति भी ईप्सित नहीं है अन्य गति से;
क्योंकि इसमें निहित रहती है विफलता;
यों सफलता हो गई यदि क्षणिक तो क्या ?
धीरता गति में रहे, मति में धवलता।

विमलता यदि हो नहीं, सरिता भला क्या ?
यदि नहीं मनुजत्व हो तो है कला क्या ?
शान्ति, समता, प्रेम का यदि हो न संगम,
तो भला संस्कृति रहेगी निर्मला क्या ?

यदि न निर्मलता रहे, संस्कृति नहीं है;
मनुजता कृति में नहीं, आकृति - निहित है;
बोध तत्त्व - विभेद का यह प्राप्त क्रमशः;
एक पल में तत्त्व क्या होता विदित है ?

जब हुआ लालित्य-बोध, सुवास इच्छित,
तब कला लालित्य के रथ पर वढ़ी है;
जो कलाएँ ललित, उनका बोध आया;
यह लता परवान पर क्रमशः चढ़ी है।

है न ईप्सा ही कभी पर्याप्त होती;
साध्य, साधन, साधना का काम्य संगम;
मात्र ईहा से कहाँ कुछ साध्य होता?
सिद्धि दे पाया नहीं है लघु परिश्रम।

कामना ईषत्, विपुल है कर्म वांछित;
चेतना यह ले, चली सांस्कृतिक यात्रा;
यदि महादुर्वह कलेवर ही रहे, तो—
क्या भला होगी अधिक गति-प्रगति-मात्रा?

नृत्य का, संगीत का क्या भार होता?
किन्तु देते क्या नहीं आनन्द अनुपम?
भूति क्या होती महार्घ विभूतियों से?
विभव है सब कुछ, भला क्या यह नहीं भ्रम?

मनुज कम्प्यूटर बने, रोबोटवत् हो;
प्राप्त कर ले अन्य यांत्रिक पूर्णताएँ;
क्या न मांत्रिक पूर्णता भी है अपेक्षित?
प्राप्त कर ले सांस्कृतिक महिमा-कलाएँ।

चाहिए विज्ञान-गति, मनुजत्व-सन्मति;
मनुजता-सोपान संस्कृति ही बनेगी;
मूलतः इन्सानियत अनिवार्य है ही;
व्यक्त मानवता सदा संस्कृति करेगी।

चाहिए सुविकास दोनों का अधिकतम;
सन्तुलन तो उभय में वांछित रहेगा;
हो असंयत क्या भला मानव करेगा?
साधना-बल ही सदा ईशित्व देगा।

अतः मानव है विकलवत् युग-युगों से;
सांस्कृतिक उपलब्धि का साधक बना है;
हो सदा विज्ञान-संस्कृति की सुसंगति;
अभ्युदय हो उभय का, यह क्या मना है?

अन्ध कक्षों में रहे विज्ञान चाहे,
सांस्कृतिक आलोक तो कुछ कम नहीं हो,
रश्मि - छाया का रहे सन्तुलन शाश्वत;
ध्वंस के पथ पर मनुज का श्रम नहीं हो।

मनुजता का नाश क्या होगा न घातक ?
यदि नहीं मधुगान हो, मधुमास क्या है ?
उड्डयन - संभावना ही यदि नहीं हो,
तो भला सार्थक अभय आकाश क्या है ?

चाहिएँ भूगोल की भी सम्पदाएँ;
हो सदा इतिहास की गरिमा अखण्डित;
चाहिए पर्यावरण, अन्तःकरण भी—
शुद्ध, सुन्दर, सर्वदा मनुजत्व - मण्डित।

सन्तुलन सुख - दुःख में हो, सह्य होगा;
दुःख बनता है असह्य असन्तुलन से;
चाहिए हत्या नहीं, रक्षा निरन्तर;
मुक्त होगा भव कहाँ जीवन - मरण से ?

मृत्यु स्वाभाविक सदा, वध किन्तु गर्हित;
सतत संस्कृति अवधि सत्कृति की बढ़ाती;
आन्तरिक उत्थान के पर्वत - शिखर पर
मनुज के व्यक्तित्व को है यह चढ़ाती।

आन्तरिक - भौतिक प्रगति सहयोगिनी हों;
चाहिए विज्ञान - संस्कृति की प्रगति भी;
अतः संस्कृति - साधनारत है रहा नर;
हो सदैव सुगर्व भी, सादर प्रणति भी।

शिशिर, मधुऋतु, ग्रीष्म, पावस आदि क्रमशः—
प्रकृति की लीला निरन्तर चल रही है;
साथ संस्कृति भी निरन्तर दे रही है;
संग दीपों के हृदय-छवि पल रही है।

दीप हैं विज्ञान, संस्कृति दीपिका यह;
दो नयन, दो चरणवत् है लोक - जीवन;
प्रगति दोनों ही करें, यह स्वस्थ गति है;
आन्तरिक भी, बाह्य भी हों छिन्न बन्धन।

सतत संस्कृति - सुलभ नैतिक बल रहेगा;
मनुज - संस्कृति में निहित अध्यात्म - बल भी;
मानवीय प्रकाश भी इनमें समाहित;
चाहता है अनल नर तो शीत जल भी।

चाहिए ही सर्वदा व्यवसाय में भी—
पूर्ण अध्यवसाय; शुचि आचारमयता;
यदि रहे अध्यात्म, नैतिक प्राण - सौरभ;
क्या नहीं होगी सदा मन में अभयता?

है सदा सन्तोष - धन सबसे बड़ा धन;
मनुज को यह बोध संस्कृति ने दिया है;
बोध ही, धन ही नहीं, सुख भी परम है;
चिर सुखी वह अमृत यह जिसने पिया है।

चाहिए आनन्द, जो सत् - चित् निहित है;
असत् या कि अचित् भला क्या काम्य होते?
जो असत् या अचित् के पन्थी बने हैं,
क्या नहीं हैं वे निरन्तर व्यथित रोते?

धन सभी को चाहिए, पर उचित पथ से;
मनुज ईषत् भी करे क्या कर्म अनुचित?
न्याय की, ईमानदारी की सुरक्षा—
चाहिए ही क्या नहीं रहनी सुनिश्चित?

लेखनी का भी यही कर्त्तव्य होता,
मूल्य अथवा लोभ से वह बिक न जाये;
नमन केवल वह करे श्रद्धेयता को;
स्वाभिमानी सर कभी झुकने न पाये।

लेखनी का, तूलिका का पथ यही है;
और सार्थकता इसीमें है कला की;
सर्वदा स्वाधीनता - संरक्षिका हो;
व्यक्त होती ज्योति हो चिर मनुजता की।

मानवों ने की युगों तक है तपस्या—
सर्वदा यह उच्च - उज्ज्वल ध्येय लेकर;
लेखनी के धर्म पर आघात जब था,
की सुरक्षा धारकों ने प्राण देकर।

लेखनी का मूल्य क्या कोई कहीं है ?
क्या नहीं वह सर्वदैव अमूल्य होती ?
है शिखा वह अमर मानव - जागरण की;
शयन यदि करती कभी तो सृष्टि सोती ।

यह शिखा लेकर मनुज आगे बढ़ा है—
दूर करता चिर तमिस्र शताब्दियों का;
लेखनी लिखती रही इतिहास अनुपम—
मनुज के अभियान की उपलब्धियों का ।

मानवों ने काव्य का आलोक पाया;
मधुर कण्ठों ने विजय के गान गाये;
कोकिलों ने की स्पृहा इस कण्ठ से है;
पर्वतों ने शीश निज उन्नत झुकाये ।

सीख पाया नर कठिन वाङ्मय - कला है—
जन्म - जीवन वह अमित अपने लगाकर;
प्रस्तरों को भी कला ने दी सुभाषा;
प्राण फूँके ज्योति जीवन की जगाकर ।

दिवस - रजनी का नहीं कुछ भेद माना,
जागरण में रह सका यह भेद क्या है ?
लाभ - सुख देने पड़े तो हानि क्या है ?
दुःख यदि सहने पड़े तो खेद क्या है ?

काल का पट सर्वदैव असीम होता;
दुःख - सुख का भेद वह कब मानता है ?
संग तो कुछ भी न जाता इस जगत् से;
सत्य सर्वोपरि यही, वह जानता है ।

मानता, रोबोट है आज्ञानुवर्त्ती;
कर्म सम्पादित सदा करता यथाविधि;
किन्तु वह तो यंत्र है, निर्णय न करता;
त्रुटि हुई तो व्यर्थ होगी जो लगी निधि ।

यंत्र में सम्भव कहाँ संचेतना है ?
सुलभ क्या उससे रहेगी शक्ति मांत्रिक ?
प्राण - प्रज्ञा तो निहित है मंत्र में ही;
मनुज पशुवत् ही रहेगा मात्र यांत्रिक ।

यंत्र हो या तंत्र अथवा मंत्र ही हों;
मात्र एकाकी नहीं पर्याप्त होते;
चाहिए होना त्रयी का शुभ समन्वय;
सन्तुलन से ही सुफल हैं प्राप्त होते।

पशु न कर पाते समन्वय - सन्तुलन तो—
क्या नहीं होते प्रताड़ित और शासित ?
मनुज पूर्ण स्वतंत्रता-सुख चाहता है;
हो समन्वय-सन्तुलन से वह न वंचित।

देह-आत्मा-हृदय का भी है त्रिसंगम;
चाहिए इनमें समन्वय-सन्तुलन भी;
उभय देते हैं सदा साहित्य-संस्कृति;
जोड़ते हैं त्रिविध को, करते वरण भी।

एक ही पग में नहीं सम्यक् सुगति है;
पक्ष भौतिक से बड़ा है पक्ष आत्मिक;
चाहिए सहयोग दोनों का निरन्तर;
मनुज हो चिर व्यावहारिक और नैतिक।

विश्वजीवन क्या भला व्यवहारमय ही ?
क्या कभी है वस्त्रमय-आहारमय ही ?
श्रेय-प्रेय रहें सदा सन्तुलित-संयत;
हो समन्वय तो सदा होगी विजय ही।

विजय का उन्माद भी वांछित नहीं है;
चाहिए उन्मादमुक्ति सदा, विनय भी;
है अहंता में निहित विस्फोट भीषण;
हो प्रशासन में निहित कारुण्य - नय भी।

चाहिए तारुण्य में भी प्रौढ़ प्रज्ञा;
है सदा साहित्य-संस्कृति का यही पथ;
हो समन्वय प्राप्ति से उत्सर्ग का भी;
तो सदा सम्यक् चलेगा सृष्टि का रथ।

गति सदा टकराव से बाधित रहेगी;
हो उचित पार्थक्य से मण्डित मिलन भी;
दो दृगों में भी यही स्थिति क्या नहीं है ?
चल रहे इस भाँति ही दोनों चरण भी।

मात्र है उपदेश ही होता न सक्षम;
संग उसके चाहिए चिर आचरण भी;
सूर्य-शशि क्या रूप ही जपना दिखाते ?
क्या नहीं करते तमिस्रा का हरण भी ?

है नहीं अस्तित्व ही पर्याप्त होता;
हो सदा व्यक्तित्व भी, कर्त्तव्य भी हो;
है नहीं विज्ञान भी सार्थक अकेला;
वाङ्मयिक, शुभ सांस्कृतिक नेतृत्व भी हो।

इस तरह अभियान मानव का बढ़ा है;
सर्वदा अभिमानरहित सदाचरण से;
शक्ति-शान्ति-समष्टि की संरक्षणा से;
सफलता से युद्ध करता नर मरण से।

छोड़ संस्कृति-पथ कहाँ जन बढ़ सकेगा ?
छोड़कर विज्ञान कैसे चल सकेगा ?
चाहिए आलोक-मन तो कर्म-तन भी;
चिर तभी तो विश्व-दीपक जल सकेगा ?

●

९. सर्ग—९ : समन्वयचक्र

सीखी सहिष्णुता अवनी से;
शृंगों से सीखी उदात्तता;
अम्बुधि-गभीरता, निर्झर-गति,
रवि से उज्ज्वलता-निर्मलता।

हैं प्रकृति और जीवन अभिन्न;
जो प्रकृति-निहित, जीवन में भी;
मानव संस्कृति का सतत दूत;
रहता विमुक्त बन्धन में भी।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' कहा,
तो 'गमय' सतत 'असतो मा सत्',
'मृत्योर्मा गमय' सदा 'अमृतम्';
रखता अक्षुण्ण ध्येय भारत।

मेघों से ले करुणा-वर्षण;
समतल से सीखी है समता;
सीखा प्रदान है तरुगण से;
गिरिमाला से सीखी दृढ़ता।

उड्डयन - कल्पना विहगों से;
ध्रुव तारक से ली सुस्थिरता;
अम्बर से असीमता सीखी;
सीखी कृषि-वन से शाद्बलता।

रजनी पर ज्यों विकसित प्रभात;
करता आया सद्गुण विकसित;
एकत्व सीखता सुरधनु से;
करता सामाजिकता सबलित।

सामाजिकता ही सदा निकष
प्राणी के मानव होने का;
इसका विनाश नरता-विनाश;
जागरण नाम क्या सोने का?

मानवता भी गतिमयी रहे;
चलता जैसे कालप्रवाह;
करता रहता है रत्नदान,
इस हेतु सिन्धु रहता अथाह।

लिखता ही महाकाव्य आया;
इतिहास बनाता आया है;
सभ्यता और संस्कृतियों का
आलोक अपरिमित लाया है।

सद्गुण असंख्य लेकर आया;
सार्थक हैं यदि कार्यान्वित हों;
उद्भासित हो सम्पूर्ण सदन;
कुल गृह-गवाक्ष आलोकित हों।

नर है तितिक्षु-शालीन परम;
इसका स्वतेज रहता अक्षय;
चिर सामंजस्य - समन्वय से
होता आया है गरिमामय।

समतल - प्रसार ले भूतल का,
सरिताओं का लेकर प्रवाह,
ले कालचक्र की गतिमयता,
चलता है मानव - सार्थवाह।

यामिनी रहे या दिवा प्रखर,
कर्मों का कभी विराम नहीं;
इस भाँति मनुज बढ़ता आया;
थी जहाँ चाह, थी राह वहीं।

हो गये वर्ण, हो गये वर्ग;
हो गये चतुर्दिक् सम्प्रदाय;
केवल अनेकता थी घातक;
चाहिए एकता का उपाय।

एकत्व धरा में, अम्बर में,
एकत्व - शक्तिमय अनिल-अनल;
इस महाशक्ति से है अनन्त
पाताल - मेरु तक विस्तृत जल।

इस मानव-गति से अन्तरिक्ष,
पाताल - सिन्धुतल भी मन्थित;
विज्ञान - कला - एकत्व - वृत्ति
के संगम पर नरता विकसित।

× × ×

पल-दिवस, रजनी कि वत्सर का, युगों का,
चक्र चलता जा रहा कालान्तरों का;
धर्म का हो चक्र या ऋतु-चक्र ही हो;
अभ्युदय का चक्र नारी-दल, नरों का।

हस्त-मस्तक-चरण - निर्भर ही न मानव;
प्राथमिक विज्ञान से है चक्र पाया;
चक्र भी विज्ञान का बढ़ता रहेगा;
मनुज-संस्कृति ने नवल जीवन जगाया।

सर्वदा वाहन - प्रगति विज्ञान देगा;
प्रगति अन्तःकरण की संस्कृति करेगी;
यंत्र बाह्य प्रकाश देते ही रहेंगे;
सतत संस्कृति आन्तरिक आलोक देगी।

यंत्र को भी चाहिए विश्राम देना;
हृदय भी विश्राम कुछ तो चाहता है;
अन्यथा गति स्वतः रुक जाती कहीं है;
कब रुके? कितनी अवधि? यह क्या पता है?

सिन्धु-मंथन का किया कर्त्तव्य तो क्या?
चाहिए मन्थन सदा अन्तःकरण का;
रत्न भौतिक ही मिले रत्नाकरों से,
रत्न होता है अलौकिक आचरण का।

चक्र ही जीवन-मरण हैं सृष्टि-क्रम के;
मृत्यु तो है कोश का लघु शब्द केवल;
मलिनता में ही निहित रहता मरण है;
चाहिए ही शब्द-कर्म समस्त निर्मल।

चक्र यों चलता सदैव विकास का है।
चल रहा सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु का क्रम;
चाहिए चिन्तन सदा यदि तत्त्वगण का,
चाहिए ही क्या नहीं मनुजत्वमय श्रम?

मानसिकता यों प्रथम इसकी बनी है;
यदि समन्वय ही नहीं, जीवन कहाँ है?
कर्म के ही संग है सुविवेक वांछित;
यदि नहीं हों उभय तो यौवन कहाँ है?

सतत सामंजस्य से जीवन चलेगा;
चार वर्णों में हुआ था विश्व सीमित;
किन्तु अब तो एकता का सूत्र व्यापक;
विश्व सारा मनुज को है आज परिचित।

एकता का लक्ष्य साधित हो रहा है;
सम्प्रदायों का भला क्या भेद रखना ?
देखना ब्रह्माण्ड को है एकतामय;
क्या भला कटुता-घृणा को है परखना ?

ऐक्य और समत्व के यदि चक्र चलते-
ही रहें, तो मानवों में युद्ध क्यों हो ?
प्रीति की वंशी उभय करते निनादित;
शांति का पंथी मनुज फिर क्रुद्ध क्यों हो?

चक्र जीवन का कहीं टूटे न क्षण भर;
सांस्कृतिक संचेतना रक्षा करेगी;
यंत्र में विज्ञान के जीवन भरेगी;
यह समन्वय-वृत्ति चिर नवशक्ति देगी।

चाहिए सहयोग रहना ही परस्पर;
था हुआ सहयोग से ही उदधि-मन्थन;
तुंग गिरिवर था उठा सहयोग से ही;
सर्वदा सहयोग में है निहित जीवन।

ज्ञात मानव को हुआ इस तत्त्व का बल;
वह लगा क्रमशः इसे आगे बढ़ाने;
जो रहा पार्थक्य-विग्रह में दुखी मन-
वह लगा आनन्द पाकर गीत गाने।

आ रहा आलोक को आगे बढ़ाता;
शुभ समन्वय और चिर सहयोग लेकर;
वर्त्तिका बनती सदा सहयोग से ही;
स्नेह से हो सिक्त पाता शक्ति है नर।

बाँटते सुख-दुःख अपने बढ़ रहे हैं;
एक का दुख दूसरा दुख मानता निज;
प्रेम से सुख-रस परस्पर बाँटने से—
है रहा खिलता नरों का हृदय-सरसिज।

स्वार्थ हो समुचित, रहे परमार्थ सम्यक्;
चाहिए ही लक्ष्य कुछ परमार्थ होना;
बीज अपने ही लिए बोते रहें क्यों ?
लोकहित में भी अपेक्षित बीज बोना।

विश्व तो आदान और प्रदान में है;
चाहिए दिक्काल को अवदान देना;
यदि मनुज उपहार ही देगा नहीं, तो—
क्या भला सम्भव परम आनन्द लेना ?

यदि नहीं धारा बहे तो नद बने क्या ?
क्या बनें वारिधि न दें यदि वारि निर्झर ?
वृक्ष खाते फल नहीं अपने बचाकर;
क्या नहीं जल विश्व को देते सरोवर ?

रत्न भी तो स्वयं रत्नाकर न रखते;
जग उन्हें विज्ञान - बल से प्राप्त करता;
हैं उन्हें सौन्दर्य देते नर कला से;
भूषणों के कोष से है विश्व भरता।

मनुज को बनना पड़ेगा विश्व - त्यागी;
छोड़कर सब कुछ यहीं, जाना पड़ेगा;
जो चलेगा सृष्टि को उपहार देकर,
वह सदा आनन्द का मकरन्द लेगा।

चाहिए मकरन्द यह पाना निरन्तर;
इस विभव का है सतत सन्धान करना;
मलिनता - दुर्गन्ध क्यों दे नर भुवन को ?
चाहिए चिर सुरभि का निर्माण करना।

स्वच्छता से कर्म यदि मण्डित रहेंगे,
क्या भला अस्तित्व होगा मलिनता का ?
लक्ष्य होना चाहिए चिर स्वच्छ कृति-मन;
उच्च होगी सर्वदा जीवन - पताका।

ध्येय लेकर चल रहा है आदि युग से;
है कभी इस लक्ष्य में अन्तर न होता;
इसलिए ही जन अनवरत है सँवरता;
है पुनः हँसता, कभी यदि व्यक्ति रोता।

व्यष्टि और समष्टि का सुख निहित इसमें;
जाति का, समुदाय का आनन्द - पथ यह;
क्षेत्र का भी, राष्ट्र का भी सुख सुरक्षित;
वहन करता नर इसीसे भार दुर्वह।

मूल्य पिक लेते कहाँ संगीत का हैं?
किन्तु वे मधुमास का जयगान करते;
श्रेय को ही प्रेय भी निज मानते हैं;
निम्न जल चातक नहीं हैं पान करते।

है चकोरों का सदा कितना कठिन व्रत?
अनल को आहार अपना मानते हैं;
विपिन देते फल, सुरभि देते सुमन हैं;
सर्वदा उपहार देना जानते हैं।

चल रहा है क्या नहीं यह क्रम युगों से?
चिर समन्वय - क्रम मधुर जीवन बना है;
निहित सुख - सौन्दर्य - मंगलपथ इसी में;
सर्वदैव विकास का कारण बना है।

चल रहा है कालनिधि - मन्थन अनवरत;
रत्न - संग्रह सर्वदा ही बढ़ रहा है;
हैं अभी अज्ञात कितने ही शिखर तो,
मनुज क्रमशः प्रगति करता चढ़ रहा है।

संग्रहालय सद्गुणों का विश्व हो चिर;
बढ़ सकें उत्थान - शृंगों पर सभी जन;
सर्वजन - मंगल सदा हो ध्येय सबका;
तब रहेगा सृष्टि में क्या कलह या रण?

लक्ष्य तो है सर्वदैव सुदूर होता;
पर प्रयत्नों से सदा दूरी घटेगी;
ज्ञान के आलोक में यदि नर चलेंगे,
क्या नहीं छाया तिमिर की तब हटेगी?

ज्ञान में विज्ञान का भी है सहारा;
भेद कोई उभय में रहता नहीं है;
ये समन्वय - दूत सहयोगी परस्पर;
भेद इनमें मानना वांछित कहीं है?

धूप - छाया भी सदा सहयोगिनी हैं;
इसलिए ही सफल छाया - चित्र होता;
तिमिर भी आलोक - सहयोगी बना है;
शूल ही तो सुमन - मालाएँ पिरोता।

यदि रहे सहयोग यह तो कष्ट क्या है?
क्या कभी पल एक प्राण - अभाव होगा?
क्या कभी विग्रह, कलह या युद्ध होगा?
व्याप्त यदि सर्वत्र ही सद्भाव होगा।

चाहता सद्भाव ही नर प्राप्त करना;
मलिनता दुर्भाव की है सबल होती;
किन्तु होता है नहीं टकराव कोई
यदि मलिनता - मुक्ति - इच्छा प्रबल होती।

सत्य का आग्रह मनुज में सर्वदा है;
न्याय को भी चाहता है प्राप्त करना;
किन्तु है अज्ञान देता अनय - इच्छा;
चाहता जिसको मनुष्य समाप्त करना।

मलिनता में, तिमिर में रहना भला क्या?
चाहिए ही विश्व को आलोक - मयता;
हो समन्वय - ऐक्य यदि, हो जय सदा ही;
क्या न होगी विश्व में व्यापक अभयता?

अभय और विभेद है सम्यक् समझना;
भेद में भी क्या अभेद निहित नहीं है।
भिन्नता में भी निहित एकत्व रहता;
एकता में भी न क्या अन्तर कहीं है?

मनुजता - विज्ञान का भी है यहि क्रम;
है सदा इनका खुला व्यापार होता;
किन्तु मानवता कहीं बिकती नही है;
मुक्त चिर व्यापार से आधार होता।

चाहिए वाणिज्य, विक्रय - मुक्तता भी;
है यही क्रम युग - युगों से चला आता;
तन भले बिकता, नहीं बिकता हृदय है;
यह समन्वय - सौमनस्य जगत् चलाता।

विषमता भूगोल में, आन्तरिक समता—
सर्वदा सर्वत्र व्यापक क्या नहीं है?
पिण्ड या ब्रह्माण्ड हो, अन्तर कहाँ है?
सिन्धु अथवा बिन्दु में अन्तर कहीं है?

दृश्य जो अन्तर, सदा आकार-गत है;
भेद गुण में है नहीं, परिमाण में है;
क्या नहीं संव्याप्त तात्विक एकता है?
मान में अन्तर नहीं, अनुमान में है।

लेखनी है एक, लेखन भिन्न होते;
भेद का सन्धान क्यों करते रहें हम;
सूचिका के सूत्र पर हो दृष्टि नर की;
सत्य है अनिवार्य, किन्तु निवार्य है भ्रम।

सम-विषम जो भी रहे, पर हो समन्वय;
ध्येय है सर्वत्र व्यापक मनुज-समता;
चाहती आहार क्या न पिपीलिका भी?
किन्तु है परिमाण में होती विषमता।

एकता-समता-निहित जीवन सदा है;
ढूँढ़ता यह सत्य चिर मानव चला है;
अग्निमन्थन भी किया इस हेतु नर ने;
हाथ ही केवल नहीं, तन भी जला है।

विश्व के नर हैं अधिकतर शान्ति-कामी;
युद्ध का अस्तित्व क्या रहता हृदय में?
मानसिकता शान्ति की यदि हो सदा ही,
मनुजता का अन्त क्या होगा प्रलय में?

मानसिकता यह रहे सुविकास पाती—
एकता से, प्रीति से, सद्भावना से;
मनुज समता के लिए सहमत सदा हो;
मुक्त हो वैषम्य से, दुर्भावना से।

उदधि जीवन का रहे चिर शान्त-समरस
हो न उद्वेलन-तरंगोद्वेग-लीला;
कम रहें प्रतिबन्ध, हो आत्मानुशासन;
जो रहे बन्धन, बने कुछ तो लचीला।

अधिक बन्धन या कठोर असह्य होते;
नर सदा ही चाहता स्वाधीनता है;
किन्तु हो स्वातंत्र्य भी आत्मानुशासित;
पूर्ण बन्धन तो मनुज की दीनता है।

एकमत विज्ञान - संस्कृति इस विषय पर;
ढूँढ़ते हैं उभय ही स्वाधीनता को;
एक ही गन्तव्य है, पथ भिन्न चाहे;
खोजते स्वातंत्र्य और नवीनता को।

लाभ मूलोच्छेद से होता नहीं है;
सृष्टि यह प्राचीन क्या निर्मूल कर दें?
प्रकृति-जन्य विकार तो होता सदा है;
किन्तु मूल - समाप्ति की क्या भूल कर दें?

प्रकृति - पथ का है पथिक मानव निरन्तर;
चल रहा संस्कार का दीपक जलाये;
एक कर में है प्रकाश-स्तम्भ - सा कुछ;
दूसरे से चल रहा है ध्वज उठाये।

भाँति इस होता युगान्तर चल रहा है;
किन्तु अन्तर है कहाँ संचेतना में?
काम्य है केवल यही, सब जन सुखी हों;
सतत समता - प्रीति की संरक्षणा में।

मूलतः शाश्वत यही है मनुज - संस्कृति;
सर्वजन - सुख - साधनों की हो व्यवस्था;
यदि नहीं हों सुलभ, हो सन्धान उनका;
हो कहीं भी क्यों अकिंचनता - अवस्था?

अन्त तो सन्धान का होता नहीं है,
किन्तु रहती है प्रगति प्रति पल अपेक्षित;
एक ओर अभाव से पीड़ित रहें नर;
अन्य मानव क्यों करें धनपुंज संचित?

सर्वदैव महीप - सत्ता निम्न होती;
उच्चतर है ध्येय मुनिसत्ता निरन्तर;
शुद्ध श्रम से न्यूनतर धन - शक्ति होती;
सतत मनुज - समत्व ऊपर।

× × ×

करें समन्वय सुविधाओं का,
दर्शन - संस्कृतियों का;
सतत निवारण करते जायें
दुर्गति - दुष्कृतियों का।

युग न रहे गतिहीन एक पल;
करते चलें युगान्तर;
सतत प्रयास सफल हो सकता;
यहाँ कहाँ छू मन्थर ?

सदा सुधार अपेक्षित रहता;
यदि विकास वांछित है;
है सुदूर, मानवता का जो
श्रेय - लक्ष्य निश्चित है।

क्रमशः बढ़ते जाने से ही
ध्येय - प्राप्त होते हैं;
नहीं घृणा से, प्रेम - ऐक्य से
रण समाप्त होते हैं।

यदि अशान्ति हो नहीं, शान्ति
तो स्वतः बनेगी सम्भव;
रक्षित करती यही सर्वदा
मानवता का गौरव।

छोड़ भेद के बिन्दु, ऐक्य के
तत्त्वों को अपनायें;
किसने क्या की भूल, इसे हम
सदा भूलते जायें।

किन्तु क्षमा करने पर भी यदि
नहीं दुराग्रह छोड़े,
उसे सुधारा जाय, न जिससे
और भूल वह जोड़े।

कर्म सुधारे, नहीं रहे वह
अनाचार ही करता,
उसे चेतना देने को
हरनी है उसकी जड़ता।

भ्रान्ति नहीं हो, है क्षमालु
दिखलाता निज दुर्बलता;
क्षमा - दया में है सुवीरता;
वांछित किन्तु सबलता।

जनहित करने आया मानव,
इसको समझाना है;
भला ध्येय क्या होता लड़ते—
लड़ते मर जाना है?

निज सार्थकता लेकर आया
है नर वसुन्धरा में;
नहीं उसे रहना है मर—
मिटने की मूढ़ त्वरा में।

चल पाता हो भले नहीं,
पथिकों को पन्थ बनाये;
सम्भव हो तो पथ सुधार दे,
शुभ सन्मार्ग बनाये।

वह भी करता कर्म बहुत
जो दीपक पथ पर जलता,
साथ पथिक के चलता जो,
उससे आलोक निकलता।

गति के संग सदा रहती है
सुमति परम आवश्यक;
वही युगान्तर ला सकती है;
करती जीवन सार्थक।

क्षितिज अमित हैं, नहीं एक ही,
सबका करें समन्वय;
हो सत्कर्म-दीप यदि कर में,
कहाँ ध्वान्त का है भय?

क्षणदाएँ आती-जाती हैं;
दिन भी आते-जाते;
कर्मवीर नर लक्ष्य अटल
रजनी में भी हैं पाते।

नहीं अनय-पथ पर, मानव चिर
चले न्याय के पथ पर;
इस पथ से ही आ सकता
मनुजोचित सुखद युगान्तर।

स्वत्व-हरण अन्यों का करने—
को संग्राम रचाते;
विजयोत्तर भी नहीं शान्ति से
जीवन किन्तु बिताते।

बल के ऊपर अन्य प्रबलतर
बल अवश्य आता है;
जेता को कर विजित, सबलता
अपनी दिखलाता है।

शिशिर-ग्रीष्म लानेवाला क्या
है बसन्त पा सकता?
जो अदूरदर्शी है, वह तो
दूर नहीं जा सकता।

लक्ष्य नहीं होता दीपों का
तम का भार बढ़ाना;
उनका तो है ध्येय स्वयं
जलकर आलोक जगाना।

एक रहेगा क्षुधित, दूसरा
हक उसका खायेगा;
खाते-खाते वह अजीर्ण की
महाव्याधि पायेगा।

यह क्रीड़ा है नहीं, नहीं
मनुजोचित यह लीला है;
कृति यह नहीं सुजीवनदात्री,
महाप्रलय-शीला है।

अन्त नहीं होता है रण का,
क्योंकि अनय चलता है;
अनियंत्रित हो जाय अनल, तो
गृह अवश्य जलता है।

नय की अवहेला ना करे नर,
इसमें ही गौरव है;
तभी युगान्तर मनुजोचित
होता जग में सम्भव है।

यही ध्येय है नर-जीवन का;
यही प्रगति जीवन की;
शान्ति-क्रान्ति-अस्वित्व इसी में,
सार्थकता यौवन की।

यह वैज्ञानिक प्रगति-कर्म का
मूल ध्येय शाश्वत है;
सतत सांस्कृतिक मूल तत्त्व है;
यही मूल नर-व्रत है।

अनय नहीं, जीवन तो है
नय को अक्षुण्ण बनाना;
सत्यं-शिवं-सुन्दरम् को
कार्यान्वित कर दिखलाना।

शिवं-सुन्दरम् का सुख-वैभव
चिर समष्टि भी पाये;
जन-जीवन की अमा निशा पर
शरत्पूर्णिमा छाये।

इसी ज्योति की खोज मनुज
युग-युग से करता आया;
इसी युगान्तर को पाने को
प्रलयानल भी खाया।

सदा चकोरों को पड़ती है
अग्निसाधना करनी;
वह्नि-धार पर भी चलती है
उनकी जीवन-तरणी।

क्रान्ति नहीं कर सकते वे, जो
अनल-ताप से डरते;
प्राण-कोष वसुधा का वे क्या
महाप्राण से भरते?

चलता है विज्ञान-चक्र से
जग-जीवन का वाहन;
अमृतरश्मि संस्कृति की करती
मानव - मूल्य - निरूपण।

करता है आचारण मनुज का
मूल्यों को कार्यान्वित;
सत्यं-शिवं-सुन्दरम् से
प्रतिभा करती है मण्डित।

प्रतिभा-मेधा के तत्त्वों से
नर पाता है गरिमा;
श्रम की महिमा सदा व्यक्त
करती है मानव-महिमा।

मानव को समता देनी है,
मिट्टी हो या कंचन;
चिर समता एकत्वदृष्टि हो,
भवन बने तब त्रिभुवन।

भवन - भुवन - एकत्वदृष्टि से
सुख साकार बनेगा;
जड़ विभेद की दीवारों में
जीवन भार बनेगा।

इसी दृष्टि से प्रगति हुई है
अविरत वसुन्धरा की;
अम्बर भी है मनुज-प्रभा
चाहता सदैव धरा को।

सतयुग- त्रेता - द्वापर - कलियुग
प्रतिदिन आते - जाते;
मानव के कार्यों में रहते,
अपना रूप दिखाते।

जाने कब आता मन्वन्तर?
सदा युगान्तर आता;
सद्गुण- अवगुण का प्रभाव है
वसुधा को दिखलाता।

कोई है क्रूरता दिखाता;
कोई करुणा-धारा;
दिशा युगान्तर की दिखलाता
कालचक्र - ध्रुवतारा।

त्रेता-द्वापर-कलियुग में भी
विविध वृत्तियाँ रहतीं;
प्रति पल सत् की और असत् की
धाराएँ हैं बहती।

कुछ सोचना नहीं है, किसको
क्या इतिहास कहेगा?
मानव का सत्-कर्मसमुच्चय
सार्थक सदा रहेगा।

देता आया इसी पन्थ से
नर जीवन-सार्थकता;
बाधक नहीं कभी बन पाई
है कोई बाधकता।

शिलान्यास नरता का करते
हृदय और हार्दिकता;
रहे मानसिकता सम्यक्;
सम्यक् ही हो बौद्धिकता।

तन-स्वरूप के ऊपर वांछित
मन-कर्त्तव्य सुशोभन;
कला और बाङ्मय करते
शोभनता का सम्पादन।

रहे सर्वसुविधा-मण्डित
मानव विज्ञान-सदन में;
चिर वाङ्मय-विज्ञान-समन्वय
हो नर के जीवन में।

उभय पूर्ण सहयोगी हैं, क्या
भेद-विरोध कहीं है?
मानवता की विविध शक्तियों—
में संघर्ष नहीं है।

× × ×

कब तक भला रहेगा ढोता हुआ यथास्थिति ?
करना मनुष्य को है निज कर्म से युगान्तर;
सहता नहीं रहेगा अन्याय और शोषण;
लाना त्वरित उसे है शुभ न्याय का सुनिर्झर।

जो व्याप्त क्षुद्रता है, वह है समाप्त करनी;
व्यापक विशालता का है अग्रदूत मानव;
जो सम्प्रदाय - बन्धन या वर्ण-जाति-बन्धन;
इन भेद-नीतियों में मनुजत्व है असम्भव।

महिमा कभी न देंगी ये हेय निम्नताएँ;
चढ़ना समाज को है उत्तुंगता-शिखर पर;
करते हुए समन्वय व्यापक समानता से,
सहयोग - एकता से आगे बढ़ा सदा नर।

विज्ञान और संस्कृति के दीप ले अचंचल,
निर्माण विश्व को है देना सदा समुज्ज्वल;
अभियान उच्चतम ही है ध्येय मनुजता का;
चिर कर्म-रूप देकर रचना भविष्य शाद्वल।

ऊपर प्रतिक्रिया से, मानव रहे क्रियात्मक;
चिर कर्म-प्रीति-वंशी पथ पर चले बजाता;
विज्ञान और संस्कृति का पथ समन्वयी हो;
नर सर्वदा रहेगा जड़ता-तिमिर हटाता।

शुभ प्रेम और करुणा हैं चिर अमोघ आयुध;
क्या अन्य आयुधों से मनुजत्व है सुरक्षित ?
विध्वंस पर सुरचना ही वांछिता रहेगी;
एकत्व तत्त्व सबका, आकार मात्र शबलित।

संघर्ष हो नहीं तो लगती विभिन्नता प्रिय;
क्या भेद कर सकेगा यदि हो सदा युगान्तर ?
संस्कार की क्रिया से बनता हुआ सुशोभन,
यह विश्व हो सदा ही मकरन्दमय-मृदुलतर।

मनुजत्व से प्रबलतर शस्त्रास्त्र है न कोई;
प्रतियोगिता करें क्यों ? क्यों हो अपार संचय ?
जय है युगान्तरों की होती रही सदा ही;
होगा नरत्व संगम-एकत्व से निरामय।

चिर त्वरा अपेक्षित कर्मों में;
क्षिप्रता चाहिए ही गति में;
क्या नहीं सन्तुलन - संयम हैं
वांछित सदैव मानव-मति में ?

नर कहे चतुर्गुण या कि इन्हें
वह कहे चतुर्भुज, अन्तर क्या ?
इनसे ही सम्भव कर्म सदा;
लाते ये नहीं युगान्तर क्या ?

चाहिए युगान्तर जीवन में;
क्या रूढ़िवादिता जीवन है ?
जो है अतीत वह तो व्यतीत;
जो वर्त्तमान वह साधन है।

हो वर्त्तमान - स्रष्टा मानव;
पर वह भविष्य द्रष्टा भी हो;
केवल द्रष्टा ही नहीं, मनुज
निज श्रम से युग-स्रष्टा भी हो।

रच सके क्रान्ति समतामय पथ;
ज्यों सम हो जाता वारिस्तर;
दायित्व - चेतना हो विकसित
अधिकार-चेतना के पथ पर।

सर्वदा न्याय ही वांछित है;
क्या भला अनयमय जीवन हो ?
मानव - उर-वाणी हों स्वतंत्र;
इनपर कदापि क्या बन्धन हो ?

देती समत्व को शक्ति नहीं
जो, क्रान्ति नहीं हो सकती वह;
क्यों मनुज रहे ढोता कदापि
जीवन का भार विषम-दुर्वह ?

चेतना - जागरण की मशाल
कर में लेकर नर बढ़ जाये;
वह नय-समत्व के अद्रि-शिखर
एकत्व-शक्ति से चढ़ जाये।

●

युगान्तर-गीत

(१)

जय संस्कृति- विज्ञान- समन्वय;
जय समता - नारी - नर;
जय व्यापक मानव-समता, जय
शान्ति - प्रीति - करुणा - स्वर ।

जय चिर विजयी मनुज-मूल्य,
सहयोग - ऐक्यमय जीवन;
भेदभाव - शोषण - जड़ता के
छिन्न - भिन्न हों बन्धन ।

चिर आक्रमण-अनय जित हों;
जन हों जनमंगल-पथ पर ।···जय···

मिटें भ्रान्तियाँ, शान्ति-क्रान्ति हो;
नव - विवेक अक्षय हों;
उन्नत मानवता - सुकेतु हो;
जन अजेय-निर्भय हों ।

आगत में ही रहें न सीमित;
करते चलें युगान्तर ।

प्रदीप-गीत

(२)

अखिल तिमिर-विजयी अविरत
सांस्कृतिक - प्रदीप जले;
संस्कृति - प्रेम बढ़े प्रतिपल;
जीवन सानन्द चले ।

विष वैषम्य-निहित क्रमशः चिर
घटता ही जाये;
शुभ समता की अमृत - धार
जन-जन को मिल पाये ।

मनुज - पुष्प में मानवता का
मधु मकरन्द पले । अखिल···

मिटें विभेद - कलह - कटुताएँ;
चिर एकत्व रहे;
प्रीति-शान्ति की रश्मि-धार का
अक्षय तत्व रहे ।

अस्त्र-शस्त्र - भयमुक्त रहें;
छलना कोई न छले । अखिल···

सहजीवन-गीत

(३)

प्राण का सौन्दर्य जागे;
शान्ति - सहजीवन रहे;
आक्रमण - शोषण न हों, क्यों
दासता - बन्धन रहे ?

चाहिए तन और जीवन;
अमित क्या धन चाहिए ?
सर्वदा सहयोम - सेवा
का समर्पण चाहिए।

प्रेम - परिरम्भन रहे, क्यों
वैर अथवा रण रहे ? प्राण···

है नहीं स्वाधीनता - रवि
अस्त करने के लिए;
प्राण हैं सबमें अमरता-
प्राण भरने के लिए।

अनवरत समभाग - सुषमा
का सुरभि-कंचन रहे। प्राण···